

६३

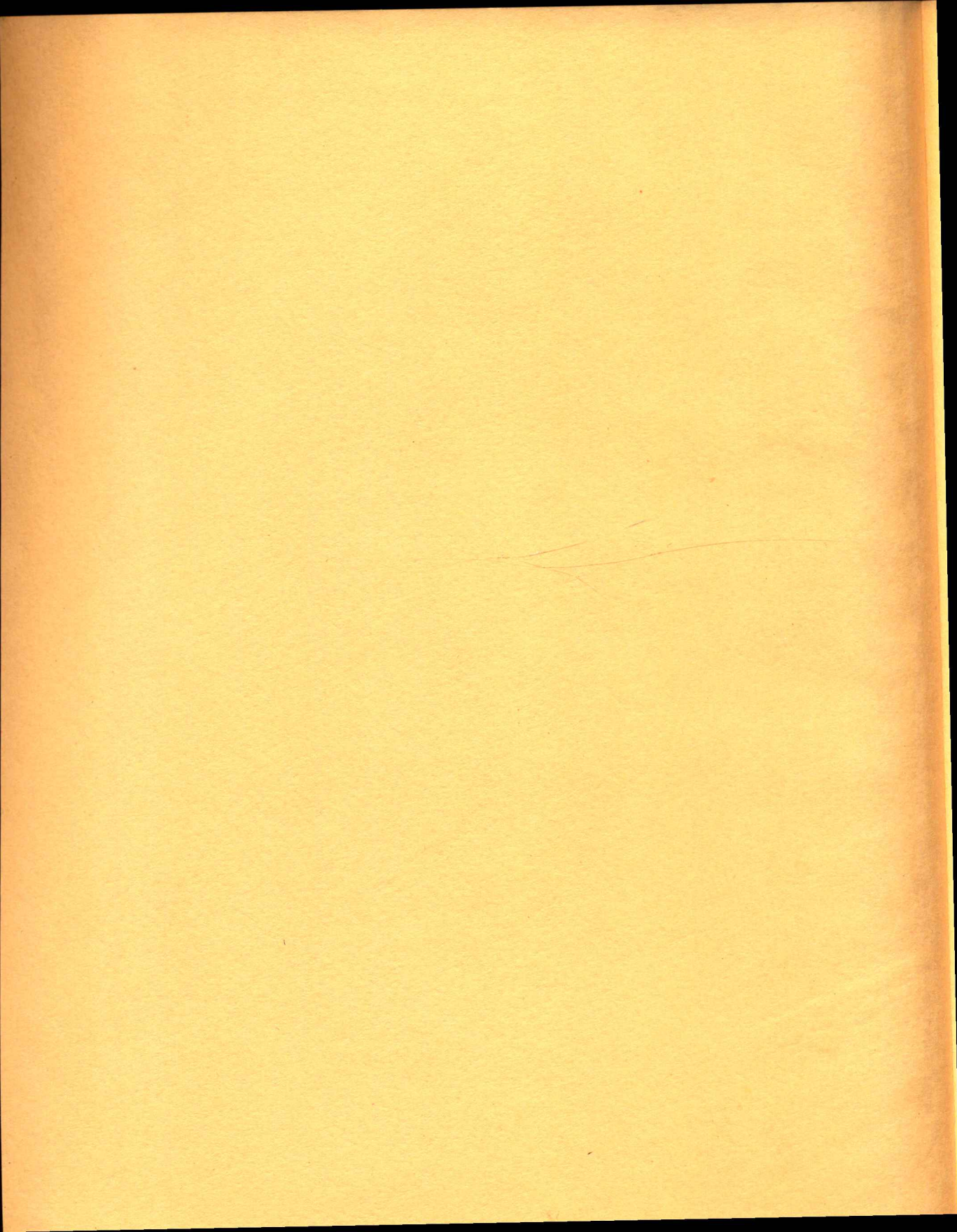
दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध पत्रिका

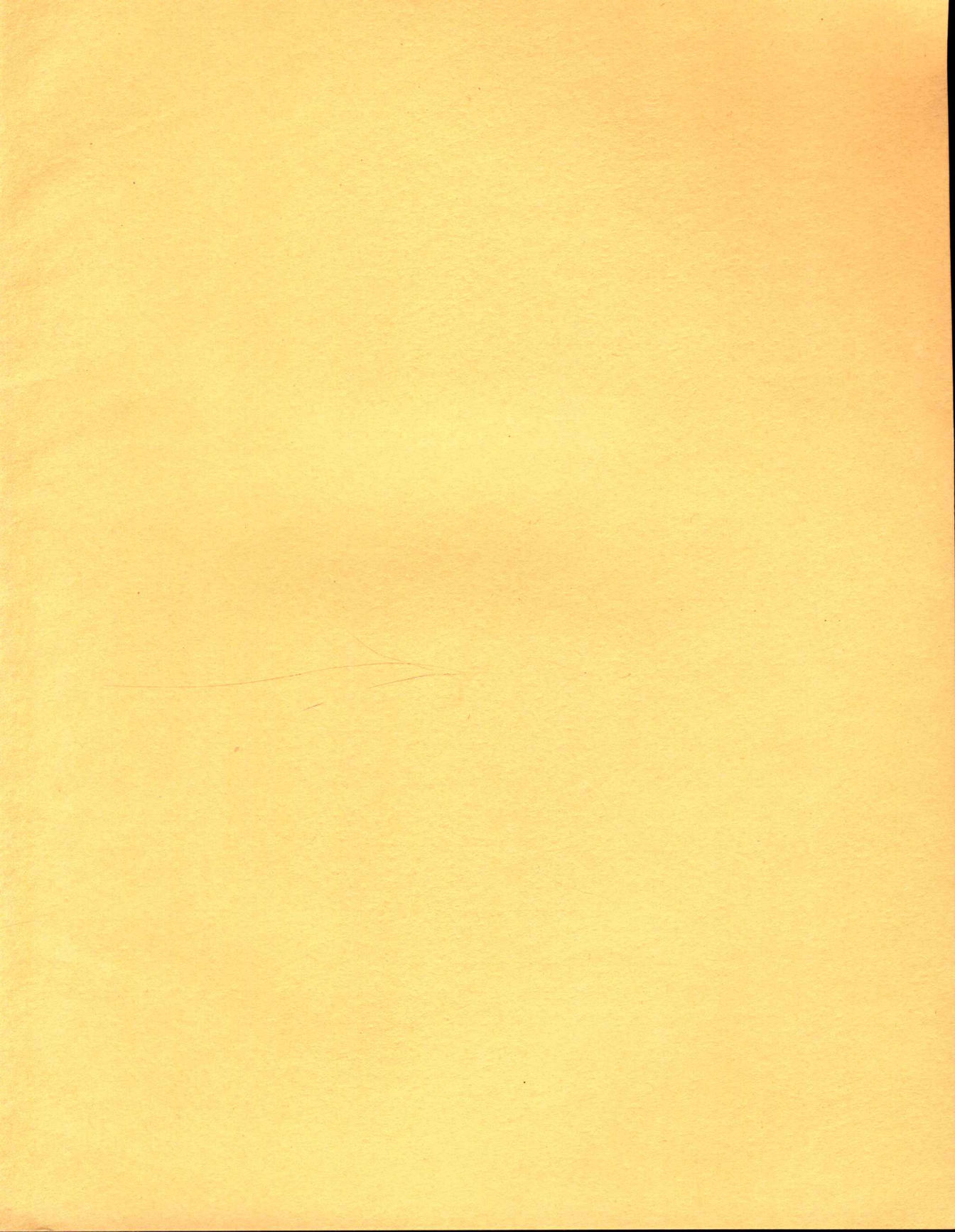
Journal
of
Rare Buddhist Texts Research Unit

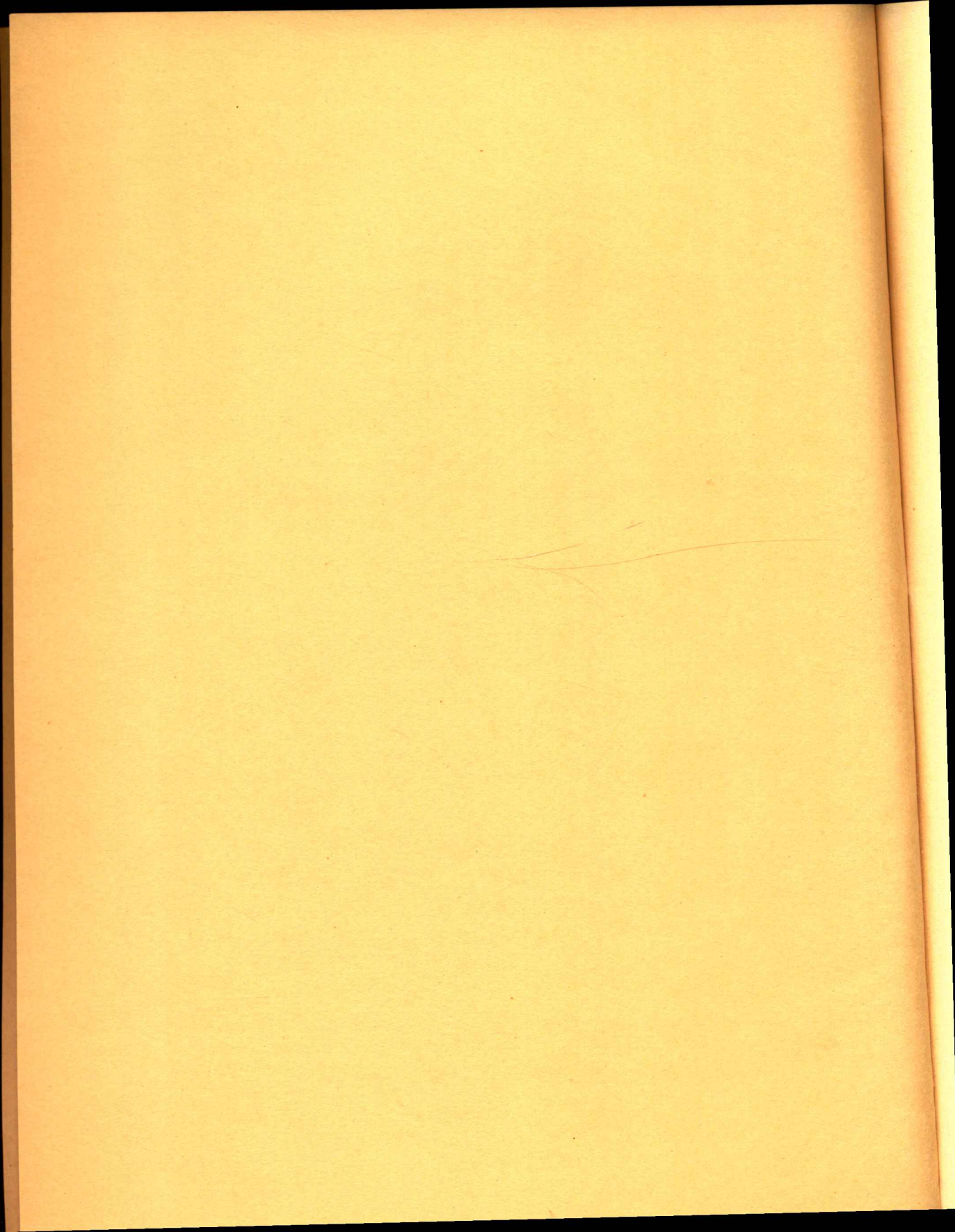
33

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

2002







ध्वाः

दुर्लभबौद्धग्रन्थशोधपत्रिका

33

सम्पादक

डचड समतेन

जनार्दन पाण्डेय

निदेशक



दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध अनुभाग
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५४६

वैशाख पूर्णिमा

ख्रीस्ताब्द २००२

सहायक-मण्डल

ठाकुरसेन नेगी
ठिनलेराम शाशनी
विजयराज वज्राचार्य

बनारसी लाल
छेरिंग डोलकर
रंजन कुमार शर्मा

३३वाँ अंक, ५५० प्रतियाँ, २००२

मूल्य : रु० ९०.००

© केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी, २००२

प्रकाशक :

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१ ००७

मुद्रक :

सुरभि प्रिन्टर्स
सी० २७/२७३, इण्डियन प्रेस कालोनी
मलदहिया, वाराणसी-२२१ ००२

Dhīh

Journal
of

Rare Buddhist Texts Research Unit

33

Editors

NGAWANG SAMTEN

Director

JANARDAN PANDEY



RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH UNIT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi

B.E. 2546

VAIŚĀKHA PŪRNIMĀ

C.E. 2002

Co-Editors

Thakur Sain Negi
Thinlay Ram Shashni
Vijay Raj Vajracharya

Banarsi Lal
Tsering Dolkar
Ranjan Kumar Sharma

Vol. xxxiii, 550 copies, 2002

Price : Rs. 90.00

© Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi, 2002

Published by:

Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

Printed by:

Surabhi Printers
C. 27/273, Indian Press Colony
Maldahia, Varanasi-221 002

धी: XXXIII

विषयानुक्रमणी

अप्रकाशित स्तोत्र—

धर्मधातुपूजाविधिस्तोत्रम्	1-4
षोडशयोगिनीस्तोत्रम्	5-6
निष्प्रपञ्च चर्या और अत्यन्त निष्प्रपञ्च चर्या — जनार्दन पाण्डेय	7-16
लुप्त बौद्ध वचन संग्रह — बनारसी लाल	17-26
बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय — टिनलेराम शाशनी	27-66
महायान बौद्ध देव परिवार : स्वरूप और प्रयोजन — प्रो० कृष्णनाथ	67-72
गुह्यसमाज : एक विश्लेषण — वङ्छुग दोर्जे नेगी	73-100
मन्त्रनयानुसार बोधिपाक्षिक धर्मों के साथ देवता-योग — बनारसी लाल	101-112
तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (3) — छेरिंग डोलकर	113-122
दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री — ठाकुरसेन नेगी	123-143
आर्यसर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रा नाम अपराजिता प्रत्यङ्गिरा महाविद्याराज्ञी	145-154
नित्यकर्मपूजाविधि:	155-166
निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (अंग्रेजी)	167-170
निबन्धों का संक्षिप्त परिचय (तिब्बती)	171-174

येन येन हि बध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा ।
सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥
रागेण बध्यते लोको रागेणैव विमुच्यते ।
विपरीतभावना ह्येषा न ज्ञाता बुद्धतीर्थिकैः ॥

(हेवग्रतन्त्र 2.2.50-51)

धर्मधातुपूजाविधिस्तोत्रम्

[यह स्तोत्र अप्रकाशित ग्रन्थ धारणी संग्रह (3-589) पत्र संख्या 187 क्रमसंख्या 168 से लिया गया है। इससे पूर्व 4 पत्रों में पूजाविधि है उसके बाद इस स्तोत्र का पाठ करने को कहा गया है।]

मञ्जुघोषं महावीरं सर्वमारविनाशकम् ।
सर्वाकारप्रदातारं धर्मधातुं नमाम्यहम् ॥ 1 ॥

महोष्णीषं सितच्छत्रं तेजोराशिं जयोशि(धि?)कम् ।
विकिरणोद्भूतं चैव महोद्भूतजपो नमे ॥ 2 ॥

अक्षोभ्यं च महाबोधिं वज्रसत्त्वं नमाम्यहम् ।
वज्रराजं वज्ररागं वज्रसाधुं नमाम्यहम् ॥ 3 ॥

श्रीरत्नसंभवं नाथं वज्ररत्नं नमाम्यहम् ।
वज्रसूर्यं महाकेतुं वज्रभाषं नमे भजे ॥ 4 ॥

अमिताभं महाराजं वज्रधर्मं नमाम्यहम् ।
वज्रतीक्ष्णं महावज्रं वज्रनाथं नमे नमे ॥ 5 ॥

अमोघसिद्धिसिद्धेशं वज्रकर्म नमाम्यहम् ।
वज्ररक्षं महायक्षं वज्रसन्धिं नमे सदा ॥ 6 ॥

लोचनाख्यां महादेवीं पाण्डुराख्यां नमे नमे ।
मामकीं नाम देवीं तां तारादेवीं नमाम्यहम् ॥ 7 ॥

वजाङ्कुशं महावीरं वज्रपाशं महत्प्रभम् ।
वज्रस्फोटं महानाथं वज्रावेशं नमे भजे ॥ 8 ॥

अधिमुक्तीश्वरीं भूमिं प्रमुदितां नमाम्यहम् ।
विमलाख्यां महाभूमिं प्रभाकरीं नमाम्यहम् ॥ 9 ॥

अर्चिष्मतीं सुदुर्जयामभिमुखीं नमाम्यहम् ।
दूरङ्गमामचलाख्यां साधुपतीश्वरीं नमे ॥ 10 ॥

धर्ममेघां महामेघां समताख्यप्रभां नमे ।
रत्नपारमितां देवीं दानपारमितां नमे ॥ 11 ॥

शीलपारमितां देवीं क्षान्तिपारमितां नमे ।
वीर्यपारमितां देवीं ध्यानपारमितां नमे ॥ 12 ॥

प्रज्ञापारमितां देवीमुपायाख्यां नमाम्यहम् ।
प्रणिधानबलं चैव ज्ञानपारमितां सदा ॥ 13 ॥

कर्मपारमितां देवीं नमामि सततं तथा ।
आयुश्चित्तपरिष्कारां कर्मोपपत्तिकां नमे ॥ 14 ॥

ऋद्धयाख्यामधिमुक्तिं च प्रणिधानं नमाम्यहम् ।
ज्ञानाख्यवशितां देवीं धर्माख्यवशितां नमे ॥ 15 ॥

तथतां च महादेवीं बुद्धबोधिं नमाम्यहम् ।
वसुमतीं महालक्ष्मीं रत्नोष्णीषां नमाम्यहम् ॥ 16 ॥

उष्णीषविजयां चैव मारीचीं पर्णशावरीम् ।
जाङ्गलीधारणीं वन्दे अनन्तमुखधारणीम् ॥ 17 ॥

चुन्दां प्रज्ञां च पद्मां च सर्वनीवरणशोधनीम् ।
अक्षयज्ञानकारण्डां धर्मकायवतीं नमे ॥ 18 ॥

धर्मप्रतिविदं देवमर्थं च प्रतिसंविदम् ।
निरुक्तिसंविदं देवं प्रतिभानाख्यसंविदम् ॥ 19 ॥

वज्रलास्यां महामालां वज्रगीतां नमे सदा ।
वज्रनृत्यां महादेवीं नमामि सततं नमः ॥ 20 ॥

समन्तभद्रं बोधीशं अक्षयतामतिं नमे ।
क्षितिगर्भं खगर्भं च बोधिसत्त्वं नमाम्यहम् ॥ 21 ॥

गगणगञ्जनाशेषं रत्नपाणिं नमे नमे ।
सागरमतिं च बोधीशं वज्रगर्भं नमाम्यहम् ॥ 22 ॥

लोकेश्वरं महासत्त्वं स्थानप्राप्तं नमाम्यहम् ।
चन्द्रप्रभं महातेजं वन्देऽहं जालिनीप्रभम् ॥ 23 ॥

अमितप्रभबोधीशं श्रीप्रतिभानकूटकम् ।
 सर्वशोकतमोघातं विष्कम्भिनं नमाम्यहम् ॥ 24 ॥
 यमान्तकं महावीरं प्रज्ञान्तकं नमे नमे ।
 पद्मान्तकं महावीरं विघ्नान्तकं नमाम्यहम् ॥ 25 ॥
 त्रैलोक्यविजयं वीरं वज्रज्वालां नमाम्यहम् ।
 हेरुकं वज्रवीरेशं परमीश्वरं नमाम्यहम् ॥ 26 ॥
 चक्रवर्तीश्वरं वन्दे सुम्भराजं नमाम्यहम् ।
 पुष्पां धूपां महादीपां गन्धां देवीं नमाम्यहम् ॥ 27 ॥
 वज्ररूपां वज्रशब्दां रसवज्रां नमाम्यहम् ।
 वज्रस्पर्शां महादेवीं विश्ववर्णां नमे सदा ॥ 28 ॥
 इन्द्रं ज(य)मं जलेशं च कुबेरमीश्वरं नमे ।
 अग्निं नैऋत्यनाथं च वायुराजं नमाम्यहम् ॥ 29 ॥
 ब्रह्माणं विष्णुदेवं च महेश्वरं कुमारकम् ।
 ब्रह्माणीं च महादेवीं रुद्राणीं वैष्णवीं नमे ॥ 30 ॥
 कौमारीं रक्तवर्णां च महेंद्राणीं नमाम्यहम् ।
 वाराहीं कालिकां चण्डीं भृङ्गिणीं गणनाथकम् ॥ 31 ॥
 महाकालं महाभीमं नन्दिकेशं रविं नमे ।
 चन्द्रं भौमं बुधं वन्दे गुरुं शुक्रं शनैश्वरम् ॥ 32 ॥
 राहुं केतुं बलभद्रं जयकरं नमे सदा ।
 मधुकरं वसन्तं च अनन्तं वासुकिं नमे ॥ 33 ॥
 तक्षकं कर्कोटं पद्मं महापद्मं नमाम्यहम् ।
 शङ्खपालं कुलीकं च वेमचित्रं बलिं नमे ॥ 34 ॥
 प्रह्लादं च महादैत्यं वैरोचनं नमाम्यहम् ।
 गरुडेन्द्रं द्रुमराजं पञ्चशिखं नमे सदा ॥ 35 ॥
 सर्वार्थसिद्धिं विघ्नेशं पूर्णभद्रं नमाम्यहम् ।
 मणिभद्रं महायक्षं धनदं च महेश्वरम् ॥ 36 ॥

वैश्रवणं महावीरं चिविकुण्डलं नमाम्यहम् ।
केलिमालिं सुखेन्द्रं चाचलेन्द्रं च नमाम्यहम् ॥ 37 ॥

हारीतीं यक्षिणीं देवीं बहुपुत्रवतीं नमे ।
अश्विनीं भरणीं तारां कृतिकां रोहिणीं नमे ॥ 38 ॥

मृगशीर्षं तथा चार्द्रां पुनर्वसुं नमाम्यहम् ।
पुष्यामश्लेषकां तारां मघां च पूर्वफल्गुनीम् ॥ 39 ॥

उत्तराफाल्गुनीं हस्तां चित्रां स्वातिं विशाखिकाम् ।
अनुराधां महाज्येष्ठां मूलतारां नमाम्यहम् ॥ 40 ॥

पूर्वाषाढोत्तराषाढां श्रवणं च सदा नमे ।
धनिष्ठां शतभिषां पूर्वा चोत्तरभद्रकाम् ॥ 41 ॥

रेवतीं च महातारामभिजितं च नमाम्यहम् ।
वज्राङ्कुशं महावीरं वज्रपाशं नमाम्यहम् ॥ 42 ॥

वज्रस्फोटं महाभीमं वज्रावेशं नमे नमे ।
वागीश्वरं महाबोधिं सर्वविघ्नविनाशकम् ॥ 43 ॥

सर्वज्ञं ज्ञानदातारं धर्मधातुं नमाम्यहम् ।
मञ्जुश्रियं महाज्ञानं सर्वविद्याप्रदेश्वरम् ॥ 44 ॥

सर्वाकारस्वरूपं च वादिराजं नमाम्यहम् ॥ 45 ॥

इति श्रीधर्मधातुवागीश्वरपूजास्तोत्रम् ॥



षोडशयोगिनीस्तोत्रम्

[यह स्तोत्र भी धारणीसंग्रह (3-589) पत्र संख्या 258 क्रमसंख्या 265 से लिया गया है।]

ॐ नमो डाकिनी श्वेतवर्णा ललितासनसंस्थिता ऊर्ध्वज्वलितपिङ्गलकेशा गजचर्म-
निवसना नरचर्मप्रावृता खट्वाङ्गयोगपात्रधरा वज्रडाकिनी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 1 ॥

ॐ सुघोरडाकिनी पीतवर्णा विविधकेशा अर्द्धपर्यङ्कस्था गजचर्मनिवसना
नरचर्मप्रावृता खट्वाङ्गयोगपात्रधरा देवी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 2 ॥

ॐ चण्डालडाकिनी हरितवर्णा रक्तोर्ध्वकेशा गजचर्मनिवसना नरचर्मप्रावृता
खट्वाङ्गपात्रधरा देवी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 3 ॥

ॐ स्पैँ सिंघिनी देवी पीतवर्णा ऊर्ध्वमुखा दहिनभुजे कर्तिधरी वामभुजे
पात्रखट्वाङ्गधरी अन्यभुजयोः पाशशक्तिधरी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 4 ॥

ॐ सुवज्रडाकिनी सितवर्णा ललितासना ऊर्ध्वज्वलितपिङ्गलकेशा गजचर्मनिवसना
नरचर्मप्रावृता खट्वाङ्गपात्रधरी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 5 ॥

ॐ पुं वेतालडाकिनी रक्तवर्णा कपिलकूरकेशा गजचर्मनिवसना नरचर्मप्रावृता
खट्वाङ्गपात्रधरी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 6 ॥

ॐ ह्रीं स्पैँ बाघिनी सितवर्णा ऊर्ध्वमुखा कृष्णवर्णा च रक्तलोचनी ऊर्ध्वकेशांग
भूषिणी डमरुखट्वाङ्गपात्रधरी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 7 ॥

ॐ अप्पुंजडाकिनी महादेवी हरितवर्णा एकमुखी द्विभुजा त्रिनेत्रा वामेन कर्ति
दहिने पात्रत्रिशूलधरा देवी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 8 ॥

ॐ मुण्डलोकिनी महादेवी अद्वयपीतवर्णा एकमुखी द्विभुजा त्रिनेत्रा वामे कर्ति
दहिने पात्रत्रिशूलधरा देवी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 9 ॥

ॐ फू डाकिनी देवी एकमुखा प्रेतहस्ता श्वेतवर्णसुशोभिता हाडाभरणभूषिता
डमरुपात्रखट्वाङ्गधरा देवी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 10 ॥

ॐ फिंदायि डाकिनी देवी उच्छलितहस्ता एकमुखी त्रिनेत्रा हाडाभरणभूषिता
डमरुखट्वाङ्गपात्रधरी देवी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 11 ॥

ॐ फें चौं योगिनी देवी एकमुखा प्रेताञ्जलिहस्ता हाडासनभूषिता डमरुपात्र-
खट्वाङ्गकर्तिधरा ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 12 ॥

ॐ फें कं बीजिनी देवी हरितवर्णा एकमुखा वामहस्ते मुषलहलधरा त्रिनेत्रा
चतुर्भुजा डमरुखट्वाङ्गपात्रधरा देवी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 13 ॥

ॐ तिनि तिति देवी पुक्कसी चाण्डाली मातङ्गी चण्डिका देवी एकमुखा त्रिनेत्रा
अमृतबिन्दुपात्रधरा देवी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 14 ॥

ॐ पुक्कसिनी देवी श्वेतवर्णा कृष्णवर्णानुरागिणी गौरवर्णा च चण्डिका
अमृतबिन्दुपात्रधरा तिनि तिति देवी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 15 ॥

ॐ उगिरिदेवी रक्तवर्णसुशोभिता तिनि देवी कपालिनी बीजिनी कुमारिका
एकवक्त्रा त्रिनेत्रा बिन्दुपात्रधरा देवी ध्यानपुष्पं नमोऽस्तु ते ॥ 16 ॥

॥ इति षोडशयोगिनीस्तोत्रं समाप्तम् ॥



निष्प्रपञ्च चर्या और अत्यन्त निष्प्रपञ्च चर्या

—जनार्दन पाण्डेय—

[आर्यदेव कृत “चर्यामेलापकप्रदीप” का संक्षिप्त हिन्दी रूपान्तर ‘धीः’ के विगत अंकों में क्रमशः प्रकाशित होता रहा है, उसके अन्तिम-दशम और एकादश परिच्छेदों-निष्प्रपञ्च चर्या और अत्यन्त निष्प्रपञ्च चर्या का संक्षिप्त अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।]

निष्प्रपञ्च चर्या

वज्रशिष्य—भगवन्! सप्रपञ्च चर्या अच्छी प्रकार समझ में आ गई। अब कृपा करके निष्प्रपञ्च चर्या का उपदेश करें।

वज्रगुरु—हे महासत्त्व! ठीक है, अब मैं गुह्यसमाजमहायोगतन्त्र की परम्परानुसार निष्प्रपञ्च चर्या का प्रतिपादन करता हूँ। एकाग्रचित्त से सुनो।

“फल पुष्पादि से सुशोभित किसी वनप्रदेश में अथवा किसी पर्वत के एकान्त प्रदेश में इस ध्यानसमुच्चय की साधना करनी चाहिए।”

इस तन्त्रोक्त वचन के अनुसार किसी मनोकूल स्थान पर किसी भूमिगृह (गुफा) अथवा भवन का यथाविधि संस्कार करके वहाँ चौकोर वज्रमणि शिखर वाले कूटागार का निष्पादन करे। उसके बाद प्राकृताहंकार से रहित हुआ महायोगी बाह्याङ्गना (बाह्यमुद्रा-जिसके सहयोग से साधना की जाती है) को भी सुसज्जित करके अपने सजातीयों एवं शिष्यगणों के साथ इस क्रम से महामुद्रासाधन प्रारम्भ करे।

उसका क्रम यह है—पहले परमार्थसत्य का आलम्बन करके स्वाधिष्ठान क्रम से जागृत होकर मलमूत्रविसर्जन करके मण्डलाधिपति के रूप में व्यवस्थित हो जाय। फिर प्राकृताहंकार को जिन्होंने छोड़ दिया है ऐसे अभेद्य समूहों वाले, स्वकायमण्डल के ही अवयवभूत वैरोचनादि माण्डलेय देवता स्वरूपों को अधिमुक्त करके, सम्पूर्ण चक्र को अनुरंजित कर स्वमुद्रा के साथ पिण्डग्रहानुभेद¹ क्रम से परमार्थसत्य में प्रवेश करता है। इसके बाद लोचनादि चार देवियों को चतुर्ब्रह्मविहार के लिये ‘त्वं वज्रचित्त...’ इत्यादि

1. पिण्डग्रहानुभेद क्रम को इसी ग्रन्थ के सप्तम परिच्छेद (पृ० 64) में स्पष्ट किया गया है—

तोये निर्मलके नदीसरसि वा बिन्दुश्च यो लीनकः

शुद्धं तत्क्रमशोऽनुभेदगदितं योगी स्मरेन्नित्यशः ।

आदर्शं ह्यनिलक्षयः क्रमगतस्तद्वन्न संप्रेक्ष्यते ।

पिण्डग्राह इति क्रमो विधिमतमेवं समुत्प्रेक्ष्यते ॥

गाथाओं से प्रेरित कर स्वाधिष्ठानक्रम से शीघ्र प्रबुद्ध परमानन्दरसानुभव के लिए नौ नाट्यरसों से क्रीड़ा करता है।

इस प्रकार बार-बार भूतकोटि (धर्मधातु) में प्रवेश करके फिर-फिर जागृत होता हुआ पञ्चतथागत स्वभाव वाले पञ्चकामगुणों का आस्वादन करता है। ऐसी क्रीडाएँ करता है जिनसे मन में खिन्नता न आवे। वहाँ तीनों प्रकार के रूपविषयों का अनुभव करता है। गीत तन्त्री वाद्यादि तीनों प्रकार के शब्दविषयों का अनुभव करता है। पुष्प, धूप और अनुलेपन (इत्र आदि) तीनों गन्धविषयों का अनुभव करता है। कटु कषाय तिक्त अम्ललवणादि रसविषयों का अनुभव करता है। इसके बाद सोलह वर्ष अवस्थावाली अक्षतयोनि, स्थूलस्तनभार से झुकी हुई, चाण्डाली, रजकी, नटी, मालाकारी, वेणुकारी, शिल्पिका इनमें से निर्दोष अंगों वाली किसी एक को लेकर निर्विकल्पात्मक योगी अपने को सर्वभावस्वभाववाला (समदर्शी) सिद्ध करने के लिए ऐसे भक्ष्य पदार्थों को, जिन्हें लोक ग्रहण करने योग्य नहीं समझते, समयशोधनादि क्रम से शुद्ध करके लौकिक विधि को पाना छोड़कर (लोगों के कथन की परवाह न करके) एकान्त प्रदेश में जाकर भक्षण करे। तब वह वहाँ न मुद्राबन्ध करता है, न मण्डल, कुण्ड चैत्य आदि बनाता है, न किसी ग्रन्थ का पाठ करता है, न शरीर को कष्ट देनेवाली किसी क्रिया को करता है, न पट काष्ठ या पत्थर पर बनी मूर्ति को प्रणाम करता है, न किसी कार्य को करने के लिए तिथि करण मुहूर्त नक्षत्र आदि समय की प्रतीक्षा करता है। ये सारी प्रक्रियाएँ वह केवल ध्यान से ही सम्पादित करता है। यदि पञ्चगुह्यमहातत्त्वात्मक होने पर भी सामग्री जुटाने में असमर्थ हो तो निष्प्रपञ्च चर्या का अभ्यास करना चाहिए।

उसका क्रम यह है—कोई रूपवज्रा बनकर अपने कोमल हाथों में दर्पण ली हुई, सौम्यदृष्टि से देखती हुई, अपने स्थूल स्तनों को सम्पूर्ण रूप से मुक्ताहारों से ढकी हुई, आच्छादन वस्त्र ढीले होने से नितम्बों के अर्धभाग को दिखाती हुई सी, महासुख के प्रति अनुराग व्यक्त करती हुई पूर्व के कोण (आग्नेय) में खड़ी है।

कोई शब्दवज्रा बनकर आँखें फैलाकर देखती हुई, शृंगाररस की ललित लीलाओं की रचनाओं से युक्त रागों द्वारा धर्मदेशना की कुशल गाथाओं का गायन सुन्दर मधुर स्वरों में करती हुई वीणा बजाने में लगी दक्षिण कोण (नैऋत्य) में स्थित है।

कोई गन्धवज्रा के रूप में मुस्कराते हुए स्निग्धदृष्टि से देखती हुई, चिकने और बड़े हुए नाखूनों की किरणों से ताँबे की जाली से ढके जैसे घुमावदार हाथों में लिये मणिमय

पात्रों में कुंकुम, अगरु, कस्तूरी, नागकेसर, चन्दन, कपूर आदि सुगन्धित पदार्थों से दशों दिशाओं को सुरभित करती हुई पश्चिम कोण (वायव्य) में स्थित है।

कोई रसवज्रा के रूप में मीठी नजरों से देखती हुई अनेक मणिमय, सुवर्णमय रजतमय पात्रों में रखे हुए नाना प्रकार के रसीले भक्ष्य भोज्यादि से, जो कि अमृतसदृश स्वादु और पथ्य हों, भरे हुए पदार्थों को लेकर उत्तर कोण (ईशान) में स्थित है।

कोई स्पर्शवज्रा के रूप में अच्छी प्रकार से शरीर को सजाकर उदरस्थ त्रिवली के घुमाव से सुन्दर लगती हुई, अत्यन्त पतली कमर वाली, घुमाये जाते हुए चंवर की तरह घुमावदार नाभि वाली, घने जघनों वाली, दाँतों और नाखूनों के चिह्नों से युक्त कठोर नितम्बों वाली, शृङ्गाररस से पूर्ण ललित और कोमल गति वाली, मन्दहास्य युक्त सौम्य दृष्टि वाली, महासुख के अनुराग से भरी हुई उसकी गोद में बैठी हो।

इसके बाद महासुख अर्थात् मुद्रा के साथ सुरतसुख प्राप्ति के लिए किये जाने वाले आलिङ्गन, चुम्बन, चूषण, कुचग्रहण, रोमांच, दाँतों और नखों के आघात, मसलना, झूलना, सूचीकरण (अंगुलियों से जघनोत्पाटन), कूर्परकरण (कुहनी से ठेस लगाना) आदि आनन्ददायक कार्य करने में हिलते हुए मुक्ताहार, कङ्कण, कटक, केयूर, मुकुट, नूपुरों की ध्वनि का आनन्द लेता हुआ विषयेन्द्रियों अर्थात् वज्र-पद्म (लिङ्ग-भग) के समायोग में प्रज्ञोपाय द्वारा ज्ञेय समापत्ति, आलिकालि, मदनातपत्र-कूर्म-कण्ठ इन तीनों नाडियों का तीन अंगुलियों से संचालन प्रेरण आदि करके सर्वतथागतों को झरने की धार की तरह द्रवित करता हुआ ज्ञानभूमि को प्राप्त कर महासुख का आस्वादन करता है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए मूलतन्त्र में कहा है—

“इस प्रकार ज्ञान की कामना में अनुरागी होकर सदा पञ्चकामंगुणों का सेवन करे।”

यदि रूपवज्रादि न भी हों तो केवल स्पर्शवज्रा के साथ सम्पुटयोग से भी यह साधना की जा सकती है। क्योंकि सभी तथागत साधक की काय में ही अन्तर्हित होते हैं और सभी देवियाँ स्पर्शवज्रा में अन्तर्भूत होती हैं। इसलिए दोनों में अभेद समझकर बिना किसी विकल्प के इसका अभ्यास करना चाहिए, ऐसा प्रतिपादन करते हुए मूलसूत्र में कहा है—

“इसके बाद सर्वतथागताधिपति वज्रपाणि सर्वतथागत काय-वाक्-चित्त की वज्रविद्या व्रत समादान चर्या को स्वकाय-वाक्-चित्त से निकाल दे।

काय-वाक्-चित्त वज्रों की काय-वाक्-चित्त भावना को स्वरूप से ही सिद्ध करने से शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।”

उस काय-वाक्-चित्त विद्याव्रत का स्वरूप इस प्रकार है—

“जटामुकुटधारी श्वेत वर्ण वाले उस महान् बिम्ब को सब प्रकार से विधिपूर्वक मन्त्र और संवर से आच्छादित कर दे।

इसके बाद सोलह वर्ष अवस्था वाली, सभी अलङ्कारों से सजी हुई, सुन्दर मुख और विशाल नेत्रों वाली मुद्रा को प्राप्त करके इस वज्रविद्याव्रत को प्रारम्भ करे।

लोचना के पर्यायवाची शब्दों से और वज्रचिह्नों से युक्त हुई उसकी भावना करे। मुद्रा और मन्त्र के विधान को जानने वाली, मन्त्र तन्त्रों की अच्छी प्रकार शिक्षा पाई हुई, बुद्ध बोधि में प्रतिष्ठित ऐसी तथागत संबंधिनी भार्या (मुद्रा) को लेकर यह महाव्रती चारों सन्ध्याओं में गुह्यपूजा करे।

सभी प्रकार के कन्द मूल फलों से ही भक्ष्य भोज्य का सम्पादन करे, इस प्रकार वह शीघ्र ही महाज्ञान का सागर समर्थ बुद्धरूप हो जाता है और ६ मास में ही उसे सब कुछ प्राप्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस प्रकार दृढ़ निश्चयी साधक भिक्षा के लिए वन में जाता है तो उसे भयत्रस्त जैसे वन के वृक्षादि बिना माँगे ही भिक्षा दे देते हैं। यदि वे उसका अतिक्रमण करते हैं तो उन्हें वज्राक्षर और वज्रात्मा के क्षीण होने का भय रहता है।

देवकन्या, नागकन्या, यक्षकन्या, असुरकन्या अथवा मनुष्यकन्या में से किसी को भी लेकर यह वज्रविद्या व्रत किया जा सकता है।

इस प्रकार द्वन्द्व, आलिङ्गन, पाण्यासि, हसित, ईक्षण और मैथुन ये षट्कामावचर क्षण-क्षण में परमानन्द सुख का अनुभव करते हैं, परिनिष्पन्नावस्था में भी सम्पूर्ण संसार में निरन्तर आनन्द मूर्ति बनकर रहते हैं। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए सर्वदेवसमागमतन्त्र में कहा है—

“दो इन्द्रियों के समागम से ध्यानविधि द्वारा मुनि को सिद्धि प्राप्त होकर चित्त में जो हर्ष होता है, उसी को महासुख कहते हैं।”

अत्यन्त निष्प्रपञ्च चर्या

अब अत्यन्त निष्प्रपञ्च चर्या का वर्णन करते हैं।

जैसाकि **गुह्यसमाज** (11.35) में कहा है—“पर्वतों में, एकान्त स्थानों में, नदी-तटों पर अथवा श्मशानादि में इस चर्या अर्थात् ध्यानसमुच्चय को प्रारम्भ करना चाहिये।” इस तन्त्रोक्त वचन के अनुसार किसी भी मनोनुकूल स्थान का चयन करके विविध भक्ष्य भोज्यादि से यक्षिणी किंकरादि को तृप्त करे। इसके बाद श्रेष्ठ साधकों को महासत्र में भोज्य वस्तुओं से तृप्त करके इस चर्या में प्रवेश करे।

इस चर्या का क्रम इस प्रकार है—पहले निर्वाण सुख की आकांक्षा करने वाले साधक को अनादिकाल से चले आ रहे सांसारिक दुःखों के अनुभव का स्मरण करके सब प्रकार से संग का त्याग करना चाहिए अर्थात् केवल एकाकी रहने का अभ्यास करना चाहिए। बाद में राज्यैश्वर्य को भी दुःख ही समझकर उसकी भी आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। फिर तिलमात्र (छोटी से छोटी) वस्तु का भी परिग्रह नहीं करना चाहिए। अन्त में परमार्थसत्य की कामना से शरीर और जीवन का भी मोह त्याग देना चाहिए। जैसाकि **समाधिराजसूत्र** (पृ० 143-328) में कहा है—

“इसलिए हे कुमार! किसी भी महासत्त्व बोधिसत्त्व को जोकि समाधि की आकांक्षा करता हो और सम्यक्संबोधि को प्राप्त होना चाहता हो, काय जीवित से निरपेक्ष हो जाना चाहिए। लौकिक क्षुद्रसिद्धियों तथा लोकोत्तर अष्ट महासिद्धियों की भी कामना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ये सिद्धियाँ वैवर्तिक होती हैं और संबोधि प्राप्ति में विक्षेप करती हैं।”

जैसाकि **असाधारणगुह्यमहायोगतन्त्र** में भी कहा है—

“उत्कृष्ट सर्वज्ञसिद्धि की प्राप्ति में किसी अन्य सिद्धि की आकांक्षा नहीं करता है। सर्वलोकायतन वाक्सिद्धि, किंकरसिद्धि, भद्रघटसिद्धि, पातालसिद्धि, राज्यसिद्धि, वश्यसिद्धि, पौष्टिकसिद्धि, अभिचारसिद्धि में किसी भी सिद्धि की चाहना न करे। ऐसा क्यों? क्योंकि महासिद्धि की कामना वाला इन क्षुद्रसिद्धियों से क्या करेगा, उसे तो केवल निर्विकल्पसिद्धि में ही ध्यान देना चाहिए।”

जैसाकि **गुह्यसिद्धि** (6.45-49) में कहा है—

“तत्त्ववेत्ता को सदा यत्नपूर्वक प्रयोग आदि से बचना चाहिए। केवल वज्रसत्त्व को छोड़कर और किसी में अहंता का भाव नहीं रखना चाहिए। शुद्ध तत्त्व के व्यवस्थित

हो जाने पर सभी प्रयोग अपने आप सिद्ध हो जाते हैं, नैरात्म्यपद की प्राप्ति तक ही उनकी प्रत्यवेक्षा रहती है, जो निःस्वभावपद को प्राप्त कर लेता है, दिव्य उपायों से युक्त हो जाता है, उसकी सारी कल्पनाएँ स्वतः सिद्ध हो जाती हैं। भावना योग के सामर्थ्य से जो कुछ भी सिद्धि के लक्षण हैं, वे सब क्षणमात्र में स्वयं उपस्थित हो जाते हैं।”

इसलिए बाह्यमुद्रा का भी त्याग करके केवल हृदयगत ज्ञानमुद्रा के साथ समापत्तियोग से शीघ्र ही महावज्रधर पद को प्राप्त करूँगा, ऐसा साहस करके अकेले ही आगे बताए गए क्रम से ध्यान करना चाहिए।

उसका क्रम यह है—जब तक रूप वेदनादि स्कन्ध समूह है तभी तक प्रकृत्याभास का विज्ञानत्रय स्वरूप प्रत्यक्षरूप में संसार में स्वात्मा परात्मा रूप से विद्यमान रहता है। कैसे? जो प्रथमाभास है वह द्वितीय प्रकृति के साथ वायु के संयोग से दशों दिशाओं में घूमता है। किससे? रागविरागमध्यरागादि से। और भी रौद्र सौम्य, हर्ष, शोक, भूख, प्यास, वेदना आदि एक सौ साठ प्रकृतियों को मन में सोचता हुआ अविद्या में रुका रहता है। फिर जब वायु के वेग से जगता है तो शरीर में व्याकुलता होती है और चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय जब तक उपलब्ध नहीं होते तब तक वहीं अटका रहता है, क्योंकि अनादिकाल से उसे यही अभ्यास रहता है। इसलिए जन्मपरम्परा से नैरात्म्य धर्म का अभ्यासी वह अब शुद्ध प्रयोग को प्राप्त कर रहा है। अतः उसे प्रकृत्याभासों को एक में मिलाकर परमार्थसत्य का आलम्बन करना चाहिए।

उसका क्रम यह है—स्कन्धादि सूक्ष्मधातु में प्रवेश करते हैं, सूक्ष्मधातु पुनः चित्त में प्रवेश करता है उसके बाद चित्त चैतसिक में प्रवेश करता है और चैतसिक अविद्या में प्रवेश करके सो जाता है। उस समय चित्त चैतसिक और अविद्या के संयोग से विस्मृति हो जाती है। इसके बाद विस्मृति भी नहीं रह जाती ज्ञानस्वरूप प्रभास्वर उदित होता है। फिर वायु भी साथ छोड़ देती है और प्रकृति चलती रहती है। अन्यथा जब तक स्वप्नादि विज्ञान नहीं चलता, तब तक वह सोया ही रहता है और प्रकृति की समीक्षा करता है। वही प्रत्यात्मवेद्य कायवाकचित्तरहित परमार्थसत्य अध्यात्माभिसंबोधि कहलाती है। इसी क्रम से कायमण्डलस्थित तथागत व्यूह का हनन होता है। इसी से तथता में प्रवेश करावे तो शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। सप्रपञ्चता और निष्प्रपञ्चताचर्या की अपेक्षा न करके निश्चय ही स्वरूप परिवर्तन हो जाता है। इसी को महासन्ध्याव्याकरणमहायोगतन्त्र में कहा है—

“जब रूपादि आध्यात्मिक धर्म दिखाई दें तो विपश्यना कहलाती है और अक्षोभ्यादि की क्रमशः कल्पना करना शमथ कहलाता है। इन दोनों के निःस्वभाव होने पर जो शान्ति होती है वह तथता है। उसी तथतामण्डल में सर्व बुद्धों का प्रवेश करावे।”

और सर्वदेवसमागमतन्त्र में भी कहा है—

“महाघोर निर्वाणाग्नि में भस्म भी नहीं रह जाता, वहाँ न तो तत्त्व ही रहता है और न धातु ही रहते हैं।” इस क्रम से युक्ति और शास्त्र द्वारा उपलब्ध सर्वबुद्धजननी (तथता) का निश्चय हो जाने पर सब प्रकार की अरल्लि (क्रीड़ा) रूप विषयासक्ति को छोड़कर भुसुकुचर्या से विचरण करना चाहिए।

भुसुकुचर्या का क्रम यह है—‘भु’ अर्थात् भुक्त्वा (खाकर) अर्थात् शरीर धारण के लिए केवल भोजन मात्र का स्मरण करे। किसी प्रकार दूसरों के संग की अपेक्षा न करे। मुझे और भी किसी प्रकार की दुष्कर चर्याएं करनी हैं ऐसा न सोचे।

‘सु’ अर्थात् सुप्त्वा (सोकर), यह जानकर कि मैंने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, उस प्राप्तविद्या का पुनः ध्यान न करे, क्योंकि वही अविद्यारूप अंकुशरूपविज्ञान पुनः लौट आता है। केवल निर्मल स्वभाव वाले प्रभास्वर का ही साक्षात्कार करे।

‘कु’ अर्थात् ‘कुटिं गच्छेत्’। केवल मलमूत्र त्याग के लिए बाहर जावे संग का त्याग करे। कायवेदना विषयेन्द्रिय स्वभाव का चिन्तन न करे, उन्मत्तव्रत (पागलों सा आचरण) द्वारा अत्यन्त निष्प्रपञ्च चर्या में व्याख्यातन्त्रोक्त क्रम से आचरण करे। उसका क्रम यह है—

“जब योगी लौकिक परिस्थितियों को छोड़ निर्विकल्प होकर सब कार्य करता है, तब उसे बुद्ध देखते हैं।

उसे सभी प्रकार के सन्देहों से रहित होकर युक्तिपूर्वक बालक की तरह आचरण करना चाहिए और जब वह निराभोग होकर रहता है तो उसके पास सम्पदाएँ बरसने लगती हैं।

सम्पूर्ण पापों से रहित, मोह का आवरण हट जाने से स्वस्थ होकर उन्मत्त व्रत योग का आचरण करने वाले योगी को छः महीने में ही अमोघसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

वह सब बुद्धों को स्वयं देखने लगता है और उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, वह न कभी क्षय को प्राप्त होता है न किसी प्रकार की हानि को। उसकी आयु और शरीर उसकी इच्छा पर निर्भर करता है।

वह बिना किसी प्रयत्न के अनुत्तरा परा बोधि को प्राप्त करता है और सभी कार्य सुख और इच्छाएँ उसकी स्वयं सिद्ध हो जाती हैं।

वह बैठा हो चाहे खड़ा हो सदा गम्भीर रहे क्योंकि प्रभास्वर ज्ञान की कुशलता से युक्त योगी का यही लक्षण है।

इस प्रकार के ध्यानयोग से चित्तरत्न दृढ़ होता है और बुद्ध एवं बोधिसत्त्व उसमें अधिष्ठान करते हैं।

ऐसा होकर योग में लगा हुआ निरन्तर उसी में अनुरक्त होकर तब तक भावना करे जब तक उस समाधिनिष्ठ योगी के मन में खिन्नता (थकान) न हो जाय।

यदि उसे खिन्नता (थकान) हो जाय तो इच्छानुसार चेष्टाएँ करता हुआ घूमे और अधखुले नेत्रों से विपुल बोधि की भावना करता रहे।

कभी हंसता हुआ, कभी बोलता हुआ, कभी खड़ा, कभी बैठा इस प्रकार चित्त को भावना में लगाये रहे कि उसे खिन्नता की प्रतीति न हो।

इस प्रकार से समाधियुक्त और निर्विकल्प योगी को अनुत्तर पद सिद्ध होता है, इसमें किसी नियत समय का निश्चय नहीं किया जा सकता।"

इस प्रकार मृदु, मध्य और अधिमात्र भेद से अवस्था के अनुरूप तीन प्रकार की चर्या करने वाले योगी को एक पक्ष में, एक मास में या छः मास में निरन्तर अभ्यास करने पर महामुद्रा सिद्धि के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। वे लक्षण इस प्रकार होते हैं—

"रूप की सूक्ष्मता, स्पर्श की लघुता, व्याप्ति, सम्प्राप्ति, प्रकाश, स्थिरता, वशित्व और कामावसायित्व। (इन्हीं को दूसरे शब्दों में अष्टसिद्धि अर्थात् अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व कहा जाता है।)"

फिर और भी स्वप्न में दिखाई देने वाले लक्षणों को गुह्यसमाजमहायोगतन्त्र में बताया गया है—

"वह स्वप्न में बोधिज्ञान प्राप्ति के बाद के बुद्ध के कायमण्डल की प्रभा को देखता है, बुद्ध के संभोगकाय को देखता है और अपने को हलका महसूस करता है।

त्रैधातुक महासत्त्वों द्वारा अपने को पूजते हुए देखता है। पञ्चकामगुणों से युक्त बुद्धों और बोधिसत्त्वों से भी अपने को पूजते देखता है।

महाज्ञान की प्राप्ति के बाद के वज्रसत्त्व के महाबिम्ब की तथा महायशस्वी वज्रधर्म की पूजा होते देखता है।

स्वप्न में गुह्यवज्र महायशस्वी महाबुद्धों बोधिसत्त्वों वज्रधरों द्वारा अपने बिम्ब को प्रणाम करते देखता है।

काय-वाक्-चित्त की सिद्धि देने वाले ऐसे ही दृश्यों को देखता है। सब अलंकरणों से युक्त मनोहर रूपवती देवकन्या को देखता है।

सुन्दर बालक बालिकाओं को देखता है। दशों दिशाओं में प्रसिद्ध बुद्धक्षेत्रों को देखता है।

प्रसन्नचित्त से धर्म का मनोरम उपदेश देते हुए सिद्धों को तथा चारों ओर प्राणियों से घिरे भगवान् बुद्ध के धर्मकाय को देखता है। इस प्रकार योग क्रिया में ध्यान लगाये लोगों को देखता है।”

वज्रशिष्य—भगवन्! यदि साधक सत्य का साक्षात् करने के बाद भी पूर्वकालिक वासनावशात् खेती, व्यापार, चाकरी आदि में व्यस्तता के कारण त्रिविध चर्या न कर सके अथवा तन्त्रोपयोगी सामग्री जुटाने में असमर्थ हो और उसकी मृत्यु हो जाय तो उसका पुनर्जन्म होगा या वह महावज्रधरता को प्राप्त कर लेगा?

वज्रगुरु—“इसमें से न तो कुछ हटाना है और न इसमें कुछ जोड़ना है। जैसा था वैसा ही देखना चाहिए। इस प्रकार का भूतदर्शी (यथावत् देखने वाला) मुक्त हो जाता है।”

निष्प्रपञ्चक्रम का यह वचन है जिसमें भूतदर्शन की बात कही गई है। भूतदर्शन से यद्यपि शाश्वत उच्छेद संक्रान्ति आदि दृष्टियों का निरोध होता है फिर भी व्यवहार में संक्रान्ति विशुद्धि निमित्त निश्चर्या का आचरण करना चाहिए। ये स्कन्धादि परलोक में उछलकर तो जायेंगे नहीं, नित्यत्व दोष आ जायेगा। परलोक मृत्यु के बाद ही होगा अन्यथा अहेतुकत्व दोष आयेगा। इसलिए जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक जलाया जाता है। एक मुद्रा से दूसरी मुद्रा का ग्रहण होता है। जैसे ध्वनि से प्रतिध्वनि होती है उसे न तो दीपक मुद्रा या ध्वनि कहा जा सकता है और न उससे भिन्न माना जा सकता है, उसी प्रकार इसे भी समझना चाहिए।

सुवर्णप्रभाससूत्र में कहा भी है—

“न तो बुद्ध का परिनिर्वाण होता है और न धर्म का परिहाण होता है, सत्त्वों के परिपाक के लिये परिनिर्वाण का निदर्शन किया जाता है।”

लङ्कावतारसूत्र में भी कहा है—

“यहाँ न तो कुछ उत्पन्न होता है न प्रत्ययों द्वारा किसी का निरोध होता है। ये कल्पित प्रत्यय ही उत्पन्न होते हैं और इन्हीं का निरोध होता है।”

इसी उक्ति के अनुसार भगवान् शाक्यमुनि की सारी लीलाएँ यहाँ परिनिर्वाण को ही दर्शाती हैं। इसी प्रकार निष्पन्नक्रम को प्राप्त करता हुआ भी परिनिर्वाण को ही प्राप्त करेगा, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। इसलिए यदि तत्त्वज्ञ व्यक्ति हेतु (सामग्री आदि) के अभाव में भी उक्तचर्या करता हुआ समग्रदृष्टियों को छोड़कर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है तो भी वह परमार्थसत्य को ही प्राप्त करेगा। इस प्रकार अच्छी तरह समझकर अभिसमय के अनुसार प्रभास्वर में प्रवेश कर सामान्यस्कन्ध से स्वाधिष्ठान क्रम द्वारा बोधिचित्त का उत्पाद करके उसमें मन को स्थिर करके पुनर्भव के विचार को न छोड़ता हुआ भी वह सर्वज्ञ हो जाता है। इसीलिए कहा है—

“मनुष्यों का मन जिस-जिस भावना से जुड़ा रहता है, उसी से तन्मयता को प्राप्त करता है जैसे विश्वरूप मणि।”

इस सब को विशेष रूप से समझने पर विशेष फल की प्राप्ति भी होती है। अतः कहा है—

“उत्पत्ति जो है वही संवृतिसत्य है और मृत्यु जो है वही परमार्थसत्य है। गुरु की कृपा से इस क्रमद्वय (उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम) को जो जान लेता है वही भविष्य में बुद्ध हो जाता है।

इन दोनों सत्यों की युगनद्धता (अद्वयवत् प्रवेश) एक साधारण सी बात है इन दोनों की एकता का ज्ञान जिसे हो गया समझो वह मुक्त हो गया।

जैसे—पर्वत के शिखर से अचानक कोई गिर जाय, यद्यपि वह गिरना नहीं चाहता था फिर भी गिर पड़ता है, उसी प्रकार गुरु की कृपा से गृहीत शास्त्रोपदेशों से जिसे मुक्ति मिल जाती है वह न चाहता हुआ भी मुक्त हो ही जाता है।

(ग्रन्थसमाप्ति-उपसंहार)

लोक में प्राणियों में तत्त्व को ग्रहण करने की क्षमता का अभाव देखकर जैसे विशाल समुद्र की लहरों में थपेड़े खाते हुए दीपकों की छोटी-छोटी लौओं से चिनगारी जैसी शास्त्रों की सूक्तियों को एकत्रित कर मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है, जो संवृतिसत्य से डरे हुए सज्जनों के लिये परमार्थसत्य में प्रवेशार्थ अलात (प्रकाशपुञ्ज) की तरह होवे।

लुप्त बौद्ध वचन संग्रह

—बनारसी लाल—

[धीः के इस अंक में कृष्णपाद विरचित दोहाकोष की अमृतवज्र (अमितवज्र) प्रणीत टीका जो धीः के ३२वें अंक में प्रकाशित हुई है तथा हेवज्रतन्त्र पर रत्नाकरशान्ति की पञ्जिका मुक्तावली जो तिब्बती संस्थान के भोट भारतीय ग्रन्थ माला-48 के रूप में सन् 2002 में प्रकाशित हुई है, से वचनों को संगृहीत कर प्रकाशित कर रहे हैं।]

अविकल्पप्रवेशधारणी

¹ज्ञेयनिर्विशिष्टेन ज्ञानेनाकाशसमतलान् सर्वधर्मान् पश्यति, तत्पृष्ठलब्धेन माया-
मरीचिस्वप्नप्रतिभासप्रतिश्रुत्काप्रतिबिम्बोदकचन्द्रनिर्मितसमान् सर्वधर्मान् पश्यतीति ।

आदिबुद्ध

(1)

²न विरागात् परं पापं न पुण्यं सुखतः परम् ।
अतोऽक्षरसुखे चित्तं वेशनीयं सदा नृप ॥

(2)

³आकाशाद्यं सदा वामे संहारः क्षमादि दक्षिणे ।

(3)

⁴दृष्टे बिम्बे ततः कुर्यात् प्राणायामं निरन्तरम् ।
ऊर्ध्वाधस्त्रिषु नाडीषु कायवाक्चित्तरोधनात् ॥

चन्द्रार्कराहुविण्मूत्रशुक्रमार्गप्रवाहिषु ।
तोयाग्निशून्यभूवायुज्ञानधातुस्वजातिषु ॥

1. हे० पं० मु०, पृ० 100, द्र०-विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिभाष्य, पृ० 352, सम्पा० प्रो० रामशंकर त्रिपाठी ।
2. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 139, द्र०-सेको० 135
3. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 138, द्र० सेको० 62
4. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 141, द्र०-सेको० 35-40

चन्द्रसूर्यतमिन्यो या कायवाक्चित्तनाडिकाः ।
 विण्मूत्रशुक्रवाहिन्यः प्राणेऽपाने क्रमेण ताः ॥
 चन्द्रकाय उपायस्य प्रज्ञाया वाग्दिवाकरः ।
 प्रज्ञाकायस्तु विण्नाडी प्रभोगे मूत्रवाहिनी ॥
 तमिनी चित्तमुपायस्य प्रज्ञायाः शुक्रवाहिनी ।
 ऊर्ध्वाधश्चित्तनाड्यौ द्वे तमिनीशुक्रवाहिन्यौ ॥
 ऊर्ध्वाधः षट्कुलं ह्येतत् कायवाक्चित्तहेतवः ।
 प्रज्ञोपायाङ्गभेदेन संस्थितं सर्वदेहिनाम् ॥

(4)

¹च्युतिर्विरागसंभूतिर्विरागाहुःखसंभवः ।
 दुःखाद्धातुक्षयः पुंसां क्षयान्मृत्युः प्रजायते ॥
 मरणात् पुनर्भवस्तेषां जरामृत्युश्च्युतिः पुनः ।
 एवं विरागसंभूतिः सत्त्वानां नान्यथा भवः ॥
 तस्मात्सर्वप्रयत्नेन च्युतिरागविवर्जितः ।
 येनाक्षरं सुखं याति योगी संसारबन्धनात् ॥

(5)

²अधश्चन्द्रामृतं याति मरणे सर्वदेहिनाम् ।
 ऊर्ध्वं सूर्यरजो राहुर्विज्ञानं भावलक्षणे ॥

(6)

³बिम्बं शून्योद्भवं हेतुः फलमक्षरजं सुखम् ।

1. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 143, द्र०-सेको० 139-141
2. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 143, द्र०-सेको० 86
3. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 144, द्र०-सेको० 146

(7)

¹कर्ममुद्रासमापत्त्या ज्ञानमुद्रावलम्बनैः ।
महामुद्रैकयोगेन वृद्धिं याति तदक्षरम् ॥

(8)

²आधाराधेयसंबन्धो यावदक्षरतां व्रजेत् ।
चित्तमक्षरताप्राप्तं नाधाराधेयलक्षणम् ॥

(9)

³मध्ये प्राणप्रवेशः सरविशशिगतेर्बन्धनं सव्यवामे
चित्तं मुद्राप्रसङ्गे परमसुखगतं वज्रसम्बोधनं च ।
अब्जे वज्रध्वनिर्वा स्वकरकमलोल्लालनं सौख्यहेतो-
र्बीजत्यागः ससौख्यो मरणभयहरः श्रीगुरोर्वक्त्रमेतत् ॥

(10)

⁴चित्तस्याभासमात्रा स्वमनसि जनितादर्शबिम्बोपमा वै
योगीन्द्रैः सेवनीया सकलजिनसुतैः सेविता या च बुद्धैः ।
सा ज्ञानार्च्चिः प्रबुद्धा दहति सविषयान् मारवृन्दं समस्तम्
रागादींश्चापि काये दहति समसुखं योगिनां वर्षयोगात् ॥

आदिबुद्धतन्त्र

(1)

⁵कायो द्विबिन्दुः शुक्रञ्च वाग्विसर्गो रजो रविः ।
राहुः कालाग्निरूपोऽयमेवंकारः सकलजगदेकबीजम् ॥

-
1. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 152, द्र०-सेको० 93
 2. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 154, द्र०-सेको० 144
 3. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 149, द्र०-का० तं० 5.121
 4. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 152
 5. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 131, प्रथम चरण मूलतन्त्र के वचन के रूप में वि० प्र० I, पृ० 35 में भी उद्धृत है।

(२)

¹आदिस्वरस्वभावा सा धीति बुद्धैः प्रकल्पिता ।

कुलिका

(१)

²सन्ध्याभाषान्तरेण उष्णीषं बिम्बं त्रैधातुकमशेषतः । आकाशे धर्मोदयं चित्तवज्रं प्रतिष्ठाप्य सेवाकाले प्रत्याहारेण भावयेत् । ध्यानातिस्थीर्यकुर्यात् ।

(२)

³हेरुकः सहजानन्दो मध्यमश्वास उत्तमः ।

विण्मूत्रशुक्रमार्तण्डचतुर्नाडीसमन्वितम् ॥

श्रीगुह्येन्द्रतिलकतन्त्र

⁴सर्वाङ्गभावनाऽतीतं कल्पनाकल्पवर्जितम् ।

मात्राबिन्दुसमातीतमेतन्मण्डलमुत्तमम् ॥

श्रीचक्रसंवर

⁵स्वर्गमर्त्यं च पातालैरेकमूर्तिः भवेत्क्षणात् ।

तत्क्षणादेव बाध्यते(न्ते) स्वपरसंवित्तिवेदिनः ॥

चतुर्देवीपरिपृच्छायोगतन्त्र

⁶चतुरशीतिसहस्राणि धर्मस्कन्धे महामुने ।

तत्त्वं वै ये न जानन्ति सर्वे ते निष्फलाय वै ॥

1. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 133

2. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 145

3. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 141

4. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 146, गु० स० प्र०, पृ० 45 में यह वचन व्याख्यातन्त्र के नाम से तथा दो० को० व्या०, पृ० 158 में गुटिकातन्त्र के वचन के रूप में उद्धृत है । गुह्येन्दु और गुह्येन्द्र दोनों नाम से यह वचन स्मृत है ।

5. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 146, द्र०-संवर० 3.6

6. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 130, लुप्त बौद्ध वचन संग्रह, भाग-1, पृ० 17 तथा भाग-2, पृ० 14 पर यह वचन इसी नाम से संगृहीत हो चुका है ।

ज्ञानवज्रसमुच्चयमहायोगतन्त्र

¹यो भगलिङ्ग एवासक्तस्तत्परायणः स न महारागसम्बोधिं लभते। यदा तु केवलं सौख्यमादायाधिमुक्तिमात्रेणादिकर्मिकभूमौ व्यवतिष्ठते पुनः शैक्षो भवति। यस्तु वज्रपद्म-समायोगसुखेन प्रकृत्याभासं सम्यग्गुणं लक्षणं जानाति स महारागसुखप्रविष्टो भवति।

तथागतगुह्यनिर्देशसूत्र

²तथाहि सर्वताथागतैः कायवाक्चित्तगुह्यैर्यथाक्रमं सर्वरूपम्, सर्वः शब्दः सर्वश्च चित्तपरिस्पन्दोऽनुगतः।

नागार्जुनपाद

³धर्मो नोत्पद्यते कश्चिन्नापि कश्चिन्निरुध्यते ।
उत्पद्यन्ते निरुध्यन्ते प्रत्यया एव केवलाः ॥

भगवान्

(1)

⁴सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्षयेत् ।
यदि न स्यात् प्रत्ययस्तत्र तदा मे मृषा वचः ॥

(2)

⁵एवं मया श्रुतमिति भिक्षवो मम धर्मः सङ्गातव्यः।

वज्रगर्भपाद

⁶नासाद्वयरन्ध्रे वामदक्षिण आदौ वा यदा आकाशमण्डलं वहति तदा मध्ये वहति।
यदा वायुमण्डलं वहति तदा नासावामपुटे स्पृशति। यदा तेजोमण्डलं तदा नासारन्ध्रं दक्षिणं

1. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 137
2. हे० पं० मु०, पृ० 106
3. हे० पं० मु०, पृ० 15
4. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 145
5. हे० पं० मु०, पृ० 2
6. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 138

स्पृशति। यदा तोयमण्डलं तदा ऊर्ध्वम्। यदा पृथ्वीमण्डलं वहति तदाधः स्पृशति। एतत् मण्डलचक्रम्।

वज्रज्वालनाग्निमहायोगतन्त्र

¹नासाग्रे सर्षपं नाम प्राणायामस्य कल्पनात् ।
प्राणायामे स्थिताः पञ्चरश्मयो बुद्धभावतः ॥

वज्रशेखर

²दृढं सारमसौषिर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाही अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

श्रीसमाजे

³भगे लिङ्गं प्रतिष्ठाप्य बोधिचित्तं न चोत्सृजेत् ।
भावयेद् बुद्धबिम्बं तु त्रैधातुकमशेषतः ॥

श्रीसम्पुट

(1)

⁴स्वरव्यञ्जनसंभूतं द्वात्रिंशद्बोधिमानसम् ।
पद्ममध्यगतं यत्तच्चन्द्रमण्डलमुच्यते ॥

मस्तिष्कं तु शिरोमध्ये स्थितं यत्तदुदाहृतम् ।
तस्य मध्ये तु ह्रूँकारो बिन्दुरूपो ह्यनाहतः ॥

तन्मूलं सर्वसत्त्वानां स्थिराणां च चलात्मनाम् ।
स्थितं तद्वीजरूपेण व्यक्तमव्यक्तरूपतः ॥

1. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 138, वज्रमाला (महायोगतन्त्र) के नाम से यह वचन गु० सं० प्र०, पृ० 57 में भी उद्धृत है।
2. हे० पं० मु०, पृ० 9
3. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 144, द्र०-सेको० 146
4. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 133

सर्वेषां देहिनां रूपं तस्मादुत्पन्नमादितः ।
 स्रवत्यमृतरूपेण व्यवस्थितमहर्निशम् ॥
 तेनैव भिद्यते नादो वह्निसंतोषकारिणा ।
 संपूर्णमण्डलं तेन भवत्येव न संशयः ॥
 तदेव मण्डमित्युक्तं वस्तूनां सारमुत्तमम् ।
 तद् गृह्णाति लातीति शरीरं मण्डलं मतम् ॥

(2)

¹रागञ्चैव विरागञ्च वर्जयित्वा पुण्य(घुणः)स्थितः ।

(3)

²स्थितः पादतले वायुर्भैरम्भो धनुराकृतिः ।
 स्थितस्त्रिकटिदेशे तु त्रिकोणे ज्वलनस्तथा ॥
 वर्तुलाकाररूपो हि वरुणस्तूदरे स्थितः ।
 हृदये पृथिवी चैव चतुरस्रः समन्ततः ॥
 कंकालदण्डरूपो हि सुमेरुर्गिरिराट् तथा ।

(4)

³अनिलानलतृप्त्यर्थं वज्रबीजेन चोदयेत् ।
 बिन्दुनादसमाक्रान्तं धारावर्ष इति स्मृतम् ॥

(5)

⁴नासापुटद्विरन्ध्रेणागतः सुकाल उच्यते ।
 गतश्चैव दुष्कालः स्यात्तयोरेकः प्रकीर्तितः ॥

1. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 139, दो० को० व्या०, पृ० 154 में भी यह वचन इसी नाम से स्मृत है।
2. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 142-143, दो० को० व्या०, पृ० 156 में भी यह वचन इसी नाम से उद्धृत है।
3. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 148
4. दो० को० टी०, धीः 32, पृ० 154-155

असहायो भवेदेकः कालस्त्वचिन्त्यतां गतः ।
 प्राणायामविहीनस्तु प्रश्वासाश्वासलक्षणः ॥
 गत्यागतिविनिर्मुक्त एकः समय उच्यते ।
 न रागो न विरागश्च मध्यमा नोपलभ्यते ॥
 रागेण च विरागेण द्वाभ्यामस्तमनाहतम् ।
 घृते घृतं यथा क्षिप्तं मिश्रीभूतमनाविलम् ॥
 तथा रागविरागाभ्यामेकः समरसक्षणः ॥ इति ॥

(6)

¹यदा कण्ठे महारागरूपेण चन्द्रमा स्थितो भवति ।
 सम्भोगस्तु तदाख्यातो बुद्धानां काय उत्तमः ॥
 नासाग्रे सदा चासौ वज्राग्रे तु यदा स्थितः ।
 अस्तंगतस्तु सम्भोगः कायोऽपि हि तदा भवेत् ॥
 भगमध्ये गतश्चासौ सर्षप इति विश्रुतः ।
 सूर्यरूपसमाख्यातो निर्माणकाय उच्यते ॥
 बुद्धानां बोधिसत्त्वानां स्फुरणं तेन जायते ।
 पद्मनर्तेश्वरो राजा पद्मप्रभुरिति स्मृतः ॥

(7)

²द्वौ नाडी (नाड्यौ) योनिमध्ये तु वामदक्षिणतस्तथा ।
 वामे शुक्रं विजानीयाद् दक्षिणे रक्तमेव च ॥

(8)

³कण्ठादारभ्य वामेन नाडी सम्भोगकायिकी ।
 नाभिमध्ये तु विश्रान्ताप्यधोमुखी मदावहा ॥

1. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 155

2. हे० पं० मु०, पृ० 18

3. हे० पं० मु०, पृ० 18, यहाँ सम्पुटे, वज्रडाके च भी कहा गया है ।

नाभेरूर्ध्वं तु या नाडी वहत्यूर्ध्वमुखी तथा ।
 कण्ठमध्ये तु विश्रान्ता रक्ता(क्त) वहा प्रकीर्तिता ॥
 मदश्चन्द्र इति ख्यातो रक्तः (क्तं) सूर्य इति स्मृतः ।
 एतौ हि चन्द्रसूर्यौ द्वौ नाडीद्वयं प्रकीर्तितौ ॥

(9)

¹हृन्मध्यगतं पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ।
 तस्य मध्यगता नाडी तैलवह्निस्वरूपिणी ॥
 कदलीपुष्पसङ्काशा लम्बमाना त्वधोमुखी ।
 तस्य मध्ये स्थितो वीरः सर्षपस्थूलमात्रकः ॥
 हूँकारोऽनाहतं बीजं स्ववत्तुषारसन्निभम् ।
 गत्यागतिं करोत्येष सर्वदेहे व्यवस्थितः ॥
 नाभावकाररूपेण ह्रस्वस्तु परिकीर्तितः ।
 हृदयेऽपि च हूँकारो दीर्घमात्राद्वयस्थितः ।
 कण्ठे चोँकाररूपेण त्रिमात्रः प्लुत उच्यते ॥
 ललाटे तु हंकारोऽसौ नादो बिन्दुरनाहतः ।
 श्रीवज्रसत्त्वरूपेण क्रीडतीह यथासुखम् ॥
 दलानां च चतुष्केऽपि चतुर्दिक्षु व्यवस्थिताः ।
 चतस्रो भूतनाड्यस्तु तैलवह्निस्वभावतः ॥

(10)

²शतमेकं द्विदशाधिकं चतुश्चक्रप्रभेदतः ।
 बोधिचित्तरूपेण नाड्यो द्वात्रिंशदुत्तमाः ॥

1. हे० पं० मु०, पृ० 18-19, द्र०-वसन्ततिलक 6.2-4, 8-10, 12, 13
2. हे० पं० मु०, पृ० 19

(11)

¹आग्नेये चैव वायव्ये माहेन्द्रे वारुणे तथा ।
मण्डले तस्य सञ्चार ऊर्ध्वपार्श्वर्ज्वधोगतिः ॥

माहेन्द्रेण भवेद् राज्यं वारुणेनार्थसम्भवः ।
आग्नेयेन भवेन्मृत्युर्वायव्येन धनक्षयः ॥

सरहपाद

²यदिदं सनिमित्तसुखं तदेव महतां निमित्तपरिहीणम् ।
ज्ञानस्वयम्भूरूपं महासुखं कल्पनाशून्यम् ॥

1. हे० पं० मु०, पृ० 26

2. दो० को० टी०, धी: 32, पृ० 137

बौद्ध पारिभाषिक शब्दों का अभिप्राय

—ठिनलेराम शाशनी—

[प्रस्तुत अंक में महापण्डिताचार्यरत्नाकरशान्तिविरचित हेवप्रपञ्जिका-मुक्तावली नामक ग्रन्थ से पारिभाषिक शब्दों का संकलन किया गया है। उपर्युक्त ग्रन्थ का सम्पादन प्रो० रामशंकर त्रिपाठी एवं डॉ० ठाकुरसेन नेगी ने किया है तथा भोट-भारतीय-ग्रन्थमाला-48 के अन्तर्गत केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी से प्रकाशित है।]

अकारः

अकारस्तेषां तत्त्वज्ञानस्यादिरित्यर्थः। ...ते ह्यादित एव नोत्पन्ना ग्राह्यग्राहकस्वभावेन नित्यमेवानुत्पन्नाः। अनुत्पन्ना एते नित्यमिति। तत्त्वज्ञानमेषां तस्यादिरकार इत्यर्थः। (पृ० 29)

अक्षोभ्यः

स (धर्मकायस्वभावः) एव अक्षोभ्यः, निराभासत्वात्। (पृ० 55)

हूँ-भवोऽक्षोभ्यः। अक्षोभ्येत्यादिस्वभावानि कपालानि बुद्धकपालानि। (पृ० 64)

द्वेषोऽक्षोभ्यः। (पृ० 98)

अधिष्ठानक्रमः

सर्वतथागतकायवाक्चित्तसङ्ग्राहकप्रज्ञोपायस्वभावेन भगवता वज्रधरेण यदात्म-सत्त्वभाजनलोकानां तादात्म्यादधिष्ठानमधिष्ठितं तदालम्बनो भावनाप्रकारोऽधिष्ठानक्रमः।

(पृ० 101)

अभिषेकः

तस्या अभिषेको ज्ञानाम्बुभिः सवासनसर्वावरणमलक्षालनम्। (पृ० 49)

...अयमस्य परमोऽभिषेकः, क्लेशविकल्पनिमित्तमलानां साक्षादनेन क्षालनात्।

(पृ० 127)

अभिषेकाः (चत्वारः)

आचार्यत्वेन गुह्येन प्रज्ञया च योऽभिषेकः स यथाक्रमम् आचार्यगुह्यप्रज्ञा च। तत्पुनस्तथेति यत् तत् साध्यसुखं तत्पुनस्तथा दृष्टान्तसुखे सम्यग्ज्ञाते पुनः पश्चाद् वाच्यम्, तथेति

दृष्टान्तसुखसाधर्म्येण यथोपदेशम्। एषां तृतीयः प्रज्ञाख्यः, तत्प्रभेदा अपि चत्वारोऽभिषेकाः क्रमशो द्विविधाः सन्ति। ...चत्वार आनन्दा यथाक्रमम्, चत्वारोऽभिषेका आरम्भचरणाद् दूरगमनात् प्रकृष्टज्ञानात् परमार्थत्वाच्च। (पृ० 156)

अमोघः

स (धर्मकायस्वभावः) एव अमोघः विश्वार्थकरणात्। (पृ० 55)

ईर्ष्याऽमोघसिद्धिः। (पृ० 98)

अविद्या

अक्लिष्टमज्ञानम् अविद्या। (पृ० 189)

आत्मवादिनः

आत्मैव जायते जीवति म्रियते बध्यते मुच्यते चेत्यात्मवादिनः। (पृ० 115)

आधारमण्डलम् (वज्रदेहः)

...तदेव उत्पन्नक्रमपक्षे यथोक्तं महाज्ञानमेव हेवज्रः। तदधिष्ठितः स्वदेह एव योगिनां वज्रदेहः। तदेव तस्याधारमण्डलम्। (पृ० 16)

आधेयमण्डलम् (पञ्चदशयोगिन्यः)

आधेयमण्डलं तु पञ्चदशयोगिनीस्वभावा नाड्य एवेति ज्ञायत एतत्। इदं तु न ज्ञायते, किं पञ्चदश एव नाड्यः, किं वा द्वात्रिंशदिति, ...द्वात्रिंशन्नाड्य इति, न तु पञ्चदशैव। ...यतो द्वात्रिंशद् बोधिचित्तानि द्वात्रिंशद् देवता वहन्ति। ततो द्वात्रिंशदप्येता वज्रयोगिन्यः। महासुख-स्थानं शिरोमध्यम्। पञ्चम्यर्थे सप्तमी, तस्मात् स्रवन्त्यो वहन्त्यः। यथाहि पर्वतेभ्यो नद्यः सलिलं स्रवन्ति, एवं ताः शिरोमध्याद् बोधिचित्तं स्रवन्ति।

यदि नाड्यो द्वात्रिंशत् कथं तासां पञ्चदशभिः योगिनीभिः सङ्ग्रहः? उच्यते—

ललना अवधूती रसना तिस्रो नैरात्म्ययोगिनी ।

अभेद्या सूक्ष्मरूपा च द्वे वज्रा कथिता जिनैः ॥

या दिव्या या च वामाख्या ते द्वे गौरी निरुच्यते ।

वामनी कूर्मजा चैव वर्ण्यते वारियोगिनी ॥

भावकी चैव सैका च वज्रडाकी निगद्यते ।

दोषावती महाविष्टा द्वे पुनः पुक्कसी मता ॥

मातरा शर्वरी चेति शवरी परिकीर्तिता ।
 शीतदा या च या चोष्मा चण्डाली ते उभे अपि ॥
 प्रवणा हृष्टवदना द्वे इमे डोम्बिनी मता ।
 स्वरूपिण्यथ सामान्या द्वे गौरी द्वारपालिका ॥
 हेतुदा च वियोगा च चौरी मुनिभिरुच्यते ।
 या प्रेमणी च सिद्धा च वेताली साभिधीयते ॥
 या पावकी या च सुमनाः स्मर्यते सा तु घस्मरी ।
 त्रिवृत्ता कामिनी चैव द्वयं भवति भूचरी ॥
 तिस्रोऽन्त्याः खेचरीगेहा चण्डिका मारदारिका ।
 डाकिनीभिरतः पञ्चदशभिः सर्वसंग्रहः ॥

तथा च वक्ष्यति सर्वमन्त्रमुद्रणपिण्डार्थपटले—

कुलपटले या नाड्यः कथिता द्विषोडशात्मिकाः ।
 नाडीद्वयद्वयैकैकयोगिन्यः क्रमशो मताः ।
 ललना रसना अवधूती नैरात्म्ययोगिनी मता ॥
 बोधिचित्तं भवेच्चन्द्रं पञ्चदशकलात्मकम् ।
 आलिरूपं महासौख्यं योगिन्यस्तस्य अंशकाः ॥ इति ॥

(हे० तं० 2.4.24-26)

अत्र हि यथा प्रथमयोगिनी नैरात्म्या तिस्रो नाडिकास्तथाऽन्त्ययोगिनी खेचरी तिस्रो नाडिका इत्यर्थादुक्तं भवति, अन्यथा तु नाडीद्वयस्य योगिनीभिः संग्रहो न स्यात्, इष्टञ्च “द्वात्रिंशद् बोधिचित्तवहा” इति वचनात् । योगिनीतन्त्रेषु हि बोधिचित्तस्य द्वात्रिंशत् प्रभेदाः । तेषां महासुखचक्रमेव प्रतिष्ठा । तस्मात् प्रत्येकमेव बोधिचित्तवहा द्वात्रिंशदेव नाड्यो महासुखचक्रप्रभवाः । तासां ततो वहन्तीनां येषु स्थानेष्वधिपत्यं तानि तासां स्थानानि पठ्यन्ते । योगिनीस्वभावभेदस्तु तासां तन्त्रभेदाद् भिद्यते, न सर्वतन्त्रेषु तुल्यः, प्रतिनाडिकासञ्चारेण च तासां परम्परानुगमोऽपि यथास्थानं कर्मदर्शनाद् वेदितव्यः । (पृ० 16-18)

...यदि नाड्यो लोकप्रसिद्धेन रूपेण भाव्येरन् तदा तद्भावनं कुशलमात्रमपि न स्यात्, किं पुनर्बोधिमार्गो भविष्यति, अथाद्वयप्रकाशरूपेण भाव्येरन्, तदापि सम्भोगकायलक्षणं योगिनीमण्डलं नैव भावितं स्यादिति । ...सर्वबुद्धधर्माणामेकरसः स्वभावो धर्मकायस्त्रिभवः, तस्मिन् परिणता अन्तर्गताः...सर्वनाड्यः यस्माद् ग्राह्यग्राहकवर्जिताः, अद्वयप्रकाशरूपा इत्यर्थः । ...भावलक्षणं लोकप्रसिद्धं नाडीरूपम्, तेन कल्पिता मुद्रिता अप्येताः सर्वतथागतैः । केन तत्त्वेन? सर्वोपायेन सर्वाकारजगदर्थहेतवः सम्भोगकायप्रपञ्चिता बुद्धधर्माः सर्वोपायः, तेन तत्त्वेन । यदेव हि तत्त्वं योगिनीनां तदेव नाडीनाम्, अतश्च नाडीचक्रमेवात्र योगिनीमण्डलमिति प्रसाधितमेतत् । तदेवं स्वदेहस्थमेव महाज्ञानं हेवज्रः । स्वदेहनाडीचक्रमेव तस्य योगिनी-मण्डलमिति । (पृ० 21)

आनन्दचतुष्टयम्

...चत्वार आनन्दाः पठ्यन्ते आनन्दः परमानन्दो विरमानन्दः सहजानन्दश्चेति । ...आनन्दपरमानन्दादयश्चत्वार उत्पत्तिपक्षे भाव्यन्ते । उत्पन्नक्रमपक्षे तु सहज एवैकश्चतुर्विधो भाव्यत इत्यर्थः । तदेवं सहजस्य द्वैविध्यं चातुर्विध्यं च दर्शितम्

...वीर इति साधकः स्वपरार्थसम्पदोः पारगमनार्थमारब्धवीर्यत्वात् । स एवानन्दः । आनन्दादन्यस्य सुखभोक्तृत्वायोगात् । परमानन्दं तु योगिनी इति सुरतानन्दाय मृग्यत्वात् । सुरतानन्दस्तृतीयः । सुरतसामान्येनैकीकृत्य गणनात् । ...उत्पत्तिक्रमे चत्वार आनन्दा भाव्यन्ते, आनन्दस्वभावानां तेषां क्रमादुत्पत्तेरिति युक्तमेतत् । ...उत्पन्नक्रमे तु सहजानन्द एवैको भाव्यत इति । (पृ० 89)

निस्तरङ्गं निष्प्रपञ्चं सुखं सहजानन्दः । (पृ० 204)

एषोऽसौ परममहासुखः सहजानन्द इत्यर्थः । ...उत्तमसुखमात्रमद्वयं निराभासमनन्तं यत् प्रकाशते, सोऽसौ सहजानन्द इत्यर्थः । उक्तं च मेलापकपटले—

आनन्देन सुखं किञ्चित् परमानन्दो ततोऽधिकम् ।

विरमानन्दे विरागः स्यात् सहजानन्दं तु शेषतः ॥

प्रथमं स्पर्शाकांक्षं द्वितीयं सुखवाञ्छया ।

तृतीयं रागनाशत्वाच्चतुर्थं तेन भाव्यते ॥

परमानन्दं भवं प्रोक्तं निर्वाणं च विरागतः ।

मध्यमानन्दमात्रं तु सहजमेभिर्विवर्जितम् ॥

शिष्याभिषेकपटलेऽप्युक्तम्—

न रागो न विरागश्च मध्यमा नोपलभ्यते ।

त्रयाणां वर्जनादेव सहजः संबोधिरुच्यते ॥

अथवा सर्वात्मकः सैवाऽथवा सर्वविवर्जितः ।

विरमादौ लक्षयेत्तच्च आनन्दत्रयवर्जितम् ॥ इति ॥

यतर्हि चतुर्थं तेन भाव्यत इति । शिष्याभिषेकपटले च—

प्रथमानन्दमात्रं तु परमानन्दं द्विसंख्यया ।

तृतीयं विरमाख्यं तु चतुर्थं सहजं स्मृतम् ॥ इति ॥ (पृ० 213-214)

येनापि साक्षात्कृतं सहजं सोऽपि साक्षात् तत्कथनाय न शक्त इति ख्यापयितुमाह—
...तस्मिन् काले...तद्यथा मूकः स्पष्टदृष्टमपि स्वप्नं न शक्तः साक्षात् कथयितुं तद्वद् गुरवः
सहजानन्दम् । ...एवं तावद् दृष्टान्तसहजोऽपि दुरवबोधः, किं पुनर्दर्शान्तिकसहजः उक्तं हि
मेलापकपटले—

नान्येन कथ्यते सहजं न कस्मिन्नपि कथ्यते ।

आत्मना ज्ञायते पुण्याद् गुरुपूर्वोपसेवया ॥ इति ॥ (पृ० 215)

आनापानस्मृतिः (षड्विधा)

आनापानस्मृतिस्तु षड्विधा वक्तव्यैव, वायुविजयाय चित्तस्थैर्याय च । यथोक्त-
मभिधर्मे—

गणनानुगमः स्थानं लक्षणाथ विवर्तना ।

परिशुद्धिश्च षोढेयमानापानस्मृतिर्मता ॥ इति ॥ (अभि० को० 6.12)

आन आश्वासः प्रविशन् वायुः, अपानः प्रश्वासः निष्क्रामन् वायुः, तदालम्बना प्रज्ञा
आनापानस्मृतिः, स्मृतिहेतुत्वात् स्मृतिरित्युच्यते । तत्र गणना नाम कायचित्ताभ्यामपकृष्य
आश्वासप्रश्वासमात्रे चित्तं दत्त्वा गणयत्येकं द्वौ यावद् दश । एवं पुनः पुनः । अस्यां त्रयो
दोषाः— द्रुतगणना, यदि द्वावेकतो गृह्णाति, अधिकगणना, यद्येकं द्वयतः, सङ्करो यद्याश्वासं
प्रश्वासतो गृह्णाति, प्रश्वासं वा आश्वासतः । अतोऽन्यथा सम्यग् गणना । अन्तरा विक्षेपे
पुनरादितो गणयितव्यम्, तावद् यावत् समाधिं लभते ।

अनुगमो नाम प्रविशन्तं वायुमनाभोगतः कण्ठहृदयनाभिकट्यूरुजंघाप्रवेशक्रमेण
यावत् पादावनुगच्छति । निष्क्रामन्तं वितस्तिमेकं द्वौ यावद् व्यामान्तरम् ।

स्थापना नाम नासाग्रे यावत् पादाङ्गुष्ठे स्थितं पश्यति मणिसूत्रवत् किमयमनुग्राहक उपघातकः शीत ऊष्णो वेति ।

लक्षणा नाम नैष केवलो वायुरेव, चत्वार्येतानि महाभूतानि तदाश्रितानि च भौतिकानि चित्तचैत्ताश्चेति पञ्चस्कन्धानुपलक्षयति ।

विवर्तना नाम वाय्वालम्बनां बुद्धिं विवर्त्य तस्या उत्तरोत्तरकुशलमूलेषु संनियोजनम् । यावदग्रधर्मादियोगादौ ।

परिशुद्धिर्यावद् दर्शनमार्गादिमण्डलराजाप्रया संनियोजनम् । (पृ० 26-27)

आरोलिकः

स (धर्मकायस्वभावः) एव आरोलिकः तेषामात्मनि सम्यक् परिच्छेदात् । (पृ० 55)

आलिकाली

आलि-कालि-चन्द्र-सूर्य-प्रज्ञोपायेति । पञ्चदश स्वराः आलिः, चतुस्त्रिंशद् व्यञ्जनानि कालिः । इह तु तत्सङ्ग्राहकावकारहूँकारौ नाभिहृदयस्थौ मणिशिखरं गतौ यथाक्रम-मालिकाली । तावेव चन्द्रसूर्यौ प्रज्ञोपायौ नैरात्म्याहेरुकस्वभावौ, तावेव बोलाग्रसङ्गतौ, हेवज्रयोगिनां समयमहामुद्रे प्रकृष्टे, न देहद्वयमित्यर्थः । (पृ० 22)

चन्द्रसूर्य आलिकालीति । कण्ठादारभ्य नाभिपर्यन्ते वामपार्श्वेऽधोमुखी या नाडी सा चन्द्र आलिश्च, बोधिचित्तवहत्वात् । या तु नाभेरूर्ध्वमुखी कण्ठपर्यन्ते दक्षिणपार्श्वे नाडी सा सूर्यः कालिश्च, शोणितवहत्वात् । तत्र वामनाडी प्रवेशमार्गः कर्तव्यः । दक्षिणनाडी तु निष्काशमार्गः । उभे तु नासारन्ध्रे द्वारद्वयम् । (पृ० 25)

आलिः पंक्तिः, अकारप्रमुखा आलिः, आलिरेव । ककारप्रमुखा आलिः कालिः ।

(पृ० 43)

शुद्धस्फटिकसंकाशस्य पुटद्वयव्यापिनो भावकचित्तस्य पञ्चदशस्वराकारः संहारः सर्वयोगिनीस्वभाव आलिः, सा चन्द्ररूपेण स्थिता, तत्परिणामश्च इत्यर्थः । तस्यैव चन्द्रस्योपरि प्रादुर्भूताश्चतुस्त्रिंशद्व्यञ्जनपङ्क्तिः सर्वबुद्धस्वभावा कालिः, सा भास्कररूपेण स्थिता, तत्परिणामः सूर्य इत्यर्थः । (पृ० 76)

यस्मादालिः प्रज्ञा, कालिरुपाय इत्यर्थः । ...आलिकालिस्वभावौ चन्द्राकौ । (पृ० 78)

इन्द्रदिक्

इन्द्रे स्वाधिपतौ दृग् दृष्टिरस्या इति इन्द्रदिक्, आर्ष इकारः । (पृ० 204)

ईक्षणम्

ईक्षणं चिह्नसंयोगः। (पृ० 157)

ईश्वरतत्त्वम्

यस्य ते ज्ञानप्रहाणसम्पत्ती भवतः। स सर्वलोकोत्तमत्वाल्लोके परम ईश्वरः।

(पृ० 97)

ईश्वरवादिनः

नित्यानित्यज्ञानः पुमान् ईश्वर इतीति ईश्वरवादिनः। (पृ० 115)

उत्पत्तिक्रमः

उत्पत्तिक्रमशब्दो ह्यत्र पारिभाषिको न लौकिकः। स च मन्त्रचिह्नादिपरिणामजं देवतादेहमाह, न मन्त्रमात्रमपि। (पृ० 16)

उपायः

सम्भारावेधसामर्थ्याद् यावदाकाशं जगदर्थकरणाय वपुषादिप्रतिभासिनश्चित्तस्य सातत्येनोत्पत्तिः, स उपायः। (पृ० 140)

उपेक्षा

उपेक्षां सर्वशेषतः तेष्वेव क्लेशादिसर्वाकुशलपक्षक्षयाय पारलौकिकलोकोत्तराशेष-कुशलपक्षोपसंहाराकाराम्। (पृ० 39)

तत उपेक्षां च तेष्वेव लौकिकलोकोत्तरसर्वकुशलोपसंहाराकाराम्। (पृ० 82)

एकचित्तम्

एकचित्तमिति आवेणिकचित्तम्, चित्तमात्रताज्ञानमित्यर्थः। (पृ० 162)

एवंकारः

एवंकार इति योनिस्थे निर्माणचक्रे। (पृ० 185)

ॐ आः हूँ

अतश्च ॐ आः हूँ। पूज्यपूजकसम्बन्धिनां कायवाक्चित्तानां सर्वताथागतैः काय-वाक्चित्तैः समताज्ञानमित्यर्थः।

तत्रार्थशून्यं मनोमात्रमेवैतत् सर्वमिति 'ॐ'। तस्यापि मनोमात्रस्य आकारशून्यतायां शक्तिः संज्ञासंलक्षणेति 'आः'। तस्या अपि शक्तेः परमार्थनिरूपिकाया अतिक्रमात् परमार्थ-दर्शनं 'हूँ' इति। तथा हि तस्मिन् मनोमात्रग्राह्यग्राहकानामकल्पनात्, तत्प्रतिभासानामस्तङ्ग-

मात्, द्वयशून्यतानिरूपकस्यापि जल्पस्योपरमात् प्रकाशैकरसा सर्वकायचित्तवाचां ख्यातिः।
ततो देहश्चासौ हूतिश्च मनश्चेति 'हूँ'। (पृ० 29)

तत्र मन्त्राणामादौ प्रणवः। मनोमात्रतादर्शनोद्भवत्वेन तेषामेव स्तुत्यर्थः। ...हूँकारो
दुष्टानां तर्जनार्थः। (पृ० 30)

करुणा

...करुणां विभावयेत्। तेष्वेव सर्वदुःखापहाराकाराम्। (पृ० 39)

ततस्तेष्वेव करुणां सर्वदुःखापनयनाकाराम्। (पृ० 82)

कर्मतत्त्वम्

स्वसंवेद्यात्मकं कर्म, तदेव परमं कर्मतत्त्वमित्यर्थः। ...द्विविधं हि कर्म- ज्ञानं प्रहाणं
च। क्लेशज्ञेयावरणक्षयः प्रहाणम्, ज्ञानं बोधस्वभावाः सर्वबुद्धधर्माः। (पृ० 97)

कर्मप्रसराः

कर्मप्रसराः शान्तिकादयो मन्त्रनीतिविहिताः। (पृ० 102)

कलशाः

विजयकलशं सार्वकार्मिककलशं च। (पृ० 209)

कल्याणमित्रम्

सत्पुरुषः कल्याणमित्रम्, सम्यगववाददानसमर्थो गुरुरित्यर्थः। (पृ० 98)

कारकतत्त्वम्

कर्म...स्वसंवेद्यमेव। न हि मार्गस्य व्यापारो मार्गादन्यः। मार्गः करणम्, कर्ता
बोधिसत्त्वः। यस्तयोरावरणयोर्हर्ता ज्ञानस्य कर्ता। अतः कर्तृत्वं परमं निष्ठागतो बोधिसत्त्वः।

(पृ० 97)

कालवादिनः

कालः संहरति प्रजा इति कालवादिनः। (पृ० 115)

किटिकिटिवज्रः

इट किट इति धातुर्गत्यर्थः। तां तां गतिं गच्छन्तीति किटयः, सर्वसत्त्वाः। तेषां किटिः
गतिः शरणम्। किटिकिटिश्चासौ सर्वानुग्राहकत्वाद् वज्रश्च दुष्टनिग्राहकत्वादिति किटिकिटि-
वज्रः। (पृ० 31)

कुन्दुरुः

कुन्दुरवः सुरतानि, यानि वज्रदेवीकमलसम्भवानि । (पृ० 150)

कुन्दुरुमिति सुरतम् । (पृ० 158)

कुलम् (षड्विधम्)

षड्विधं कुलम् । अक्षोभ्य-वैरोचन-रत्नसम्भवास्त्रयः, अमितप्रभेष्टौ द्वौ, अथ वज्रसत्त्व इत्येकः ।

एते कया शुद्ध्या विभाव्या इत्याह—द्वेष-मोह-पिशुन-रागेष्ट्या-सौख्यमिति... यथा-क्रमम् । एवं षट्कुलानि । (पृ० 197)

कृपा

सर्वसत्त्वेष्वात्मसमताप्रत्यवेक्षणं कृपा, स उपायः । (पृ० 126)

क्रमद्वयम्

क्रमः प्रकारो भागः पक्ष इति पर्यायाः । कस्य क्रमः? योगस्य । मन्त्रचिह्नादिक्रमेण देवताकारनिष्पत्तिर्योगिन उत्पत्तिः, सा यस्मिन् योगेऽस्ति स उत्पत्तिक्रमः ।

उत्पन्नसहजमेव साधकादीनां रूपम्, तदेव देवतादि तत्त्वरूपेणाधिमुच्य यस्मिन् योगे भाव्यते, स उत्पन्नक्रमः ।

एतत्क्रमद्वयमाश्रित्य वज्रिणां बुद्धानां धर्मदेशना योगदेशना । (पृ० 87)

क्षणः

क्षणभेदः चत्वारः क्षणाः । (पृ० 154)

क्षण आनन्दानां कालः । (पृ० 155)

खगमुखैकरसः

खगमुखैकरसं च बोधिचित्तं तथतालम्बनत्वात्, अनाभासत्वाच्च । तत्स्वभावत्वात् खगमुखैकरसो वज्रः । (पृ० 237)

खधातुः

शून्यताबोधिभावनया विश्वप्रतिभासे स्वचेतसि निराभासीकृते प्रतिभासमानमनन्त-माकाशं खधातुः । (पृ० 74)

खसमम्

कुतः खसमम्? निराभासत्वेन द्वयशून्यतानिष्ठत्वात्। कुतो निराभासम्? पटीयसि प्रेयसि तस्मिन् वेद्ये प्रवृत्तस्यानुभवस्य वेधान्तरेष्वप्रचारात्। (पृ० 99)

खसममिति आकाशसदृशनिराभासप्रकाशरूपेण समरसेन स्वपरयोः प्रख्यानात्।

(पृ० 114)

गुरुपर्वोपायसेवा

उपायो मार्गः, तस्य सेवा सम्यग्भावना, तस्य बहूनि पर्वाणि, बहवः प्रकारा इत्यर्थः। गुरुलभ्यं पर्व, गुरुपर्व, यद् योग्याय शिष्याय गुरुणा विधिवत् दीयते, अववाद इत्यर्थः। अवगमाय वादोऽववादः, अवगमोऽधिगमः, वाद उपदेशः गुरुपर्वणा उपायसेवा गुरुपर्वो-पायसेवा, तया ज्ञायते पुण्यात्। (पृ० 92)

चक्रचतुष्टयम्

धर्म-सम्भोग-निर्माणेति धर्मचक्रं सम्भोगचक्रं निर्माणचक्रं च कायवाक्चित्तमिति। तान्येव त्रीणि चक्राणि यथाक्रमं सर्वबुद्धानां चित्तवाक्कायगुह्यरूपाणीत्यर्थः। तेषामेव त्रयाणां तथागतगुह्यानां निरुत्तरसुखैकरसत्वेन परिज्ञानं महासुखचक्रं चतुर्थम्।

अथ तानि कतमेषु देहस्थानेषु द्रष्टव्यानि? यथाक्रमं हृत्कण्ठयोनिशिरस्सु। वक्ष्यति हि सर्वतन्त्रमुद्रणपिण्डार्थपटले—

योगिन्या देहमध्यस्थमँकारसंवरं स्थितम् ।

यथा बाह्यं तथाध्यात्मं संवरं प्रकाशितम् ॥

बोलसौख्यं महामुद्रा वज्रायतनमुपायकम् ।

अनया गुह्यसमापत्त्या बाह्यद्वन्द्वं निदर्शितम् ॥

त्रिकायं देहमध्ये तु चक्ररूपेण कथ्यते ।

त्रिकायस्य परिज्ञानं चक्रं महासुखं मतम् ॥

धर्मसम्भोगनिर्माणं महासुखं तथैव च ।

योनिहृत्कण्ठमस्तेषु त्रयः काया व्यवस्थिताः ॥ इति ॥

(हे० तं० 2.4.49-52)

...एवं मया इति निर्माण-धर्म-सम्भोग-महासुखचक्राणि यथाक्रममेवं मया-स्वभावानि लोचनादिचतुर्देवीस्वभावानीत्यर्थः। ...चतुःषष्टिदलं पद्मं निर्माणचक्रमित्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि। अष्टेति अष्टदलम्, षोडशेति षोडशदलम्, द्वात्रिंशदिति द्वात्रिंशदलम्।

(पृ० 22-23)

चक्रमण्डलम्

चक्रमण्डलं महामोक्षपुरं परमाद्यभवनम् इत्येकार्थः। तद् द्विविधमाधाराधेयभेदात्। तेन विना नास्ति समाधित्रययोगः। ...धर्मसङ्केतेन चक्रादिशब्दैर्माहेन्द्रवारुणाग्नेयवायव्य-मण्डलान्युच्यन्ते। ...अथवा चक्राणि मण्डलानि। इह तु महेन्द्रमण्डलमेव चक्रमुक्तं प्राधान्यात्। (पृ० 74)

चण्डाली

आद्यक्षराकारेण नित्यं नाभिदेशे स्थिता भगवती नैरात्म्या चण्डत्वाच्चण्डाली।

(पृ० 27)

चण्डालीति निहितमानत्वात् क्षमाशीला। (पृ० 52)

चतुरार्यसत्यानि

चतुरार्यसत्येति चतुरार्यसत्यविषयं योगिनः कर्म। तदेवाह—दुःखेत्यादिना। दुःख-परिज्ञानं समुदयप्रहाणं निरोधसाक्षात्क्रिया मार्गभावना चेत्यर्थः। (पृ० 24)

चत्वारि तत्त्वानि

आत्मैव तत्त्वं विज्ञप्तिमात्रता, देवतैव तत्त्वं हेवज्रादि, मन्त्र एव तत्त्वम् अकारादि, ज्ञानमेव तत्त्वं निष्प्रपञ्चमनुत्तरसुखज्ञानम्। (पृ० 24)

चराचरम्

चरं देवतानां शरीरम्, अचरं वस्त्राभरणादि। (पृ० 142)

चित्तम्

विज्ञानलक्षणं चित्तम्, विजानातीति विज्ञानं षड् विज्ञानकायाः, चक्षुर्विज्ञान-धातुर्यावन्मनोविज्ञानधातुः। एतान्येव समनन्तरातीतानि मनोधातुः। सप्तैते विज्ञानधातवो मन आयतनम्। यश्च षड्विज्ञानैर्विज्ञाता पुद्गलः, सोऽपि विजानातीति विज्ञानम्, ततः सोऽपि चित्तशब्देनोक्तः। (पृ० 51)

चित्तसमाजः

चित्तं यथोक्तं बोधिचित्तम्, तदेव समाजः सर्वधर्माणामेकरसं मीलनम्। (पृ० 127)

चिह्नम्

चिह्नं कर्त्रीकपालखट्वाङ्गानि। (पृ० 78)

चैत्तिकम्

चित्तस्य विषयश्चैत्तिकं धर्मायतनम् । (पृ० 52)

छोम्मा

छोम्मा मिलिच्छायोगिनीनां सङ्केतः । साऽपि समयाङ्गत्वाद् विज्ञेया । (पृ० 67)

जननी

जननीति हितैषिणी । (पृ० 52)

जपम्

जल्पनं जपम् इति हेवज्राहङ्कारिणो हन्मन्त्रोद्भवः, स एव जल्पो जप इति संक्षेपः ।

(पृ० 58)

जापः

मन्त्रः प्रणवादिः, तस्य जापो जल्पनम् । ...प्राबन्धिकत्वाज्जापः । (पृ० 127)

जपनं जापः, तद्विषये तत्सम्बन्धं वस्तु जापमक्षसूत्रम् । (पृ० 232)

ज्ञानतत्त्वम्

ज्ञानमेव तत्त्वं निष्प्रपञ्चमनुत्तरसुखज्ञानम् । (पृ० 24)

डाकिनी

डाकिनीनामिति 'डै'-वैहायसगमने । डानं डा ऋद्धयभिज्ञा, तयाऽङ्कितुं शीलमासामिति डाकिन्यः, अङ्कनं कुटिला गतिः, ऋद्ध्या युगपद् दशसु दिक्षु गतिशीलाः सिद्धयोगिन्यो डाकिन्य इत्यर्थः । (पृ० 155)

डाकिनीजालसंवरम्

डाकिनीनां जालं चक्रम्, तेन संवरं सुखं चरन् । (पृ० 153)

तत्त्वयोगः (सत्यद्वयम्)

स्वकायवाक्चित्तेषु सर्वतथागतकायवाक्चिताधिमोक्षस्तत्त्वयोग इति । (पृ० 54)

सत्यद्वयमधिकृत्य...भावनं भावः, भावकः कर्ता, भावना क्रिया, द्वयमिदं भावनीयात् पृथग् नैव द्रष्टव्यम् । देवतामन्त्राभ्यामन्यो नाहम्, भावनाऽपि तयोः प्रकाशरूपतैव, नान्येत्येष तत्त्वाधिमोक्षः कर्तव्य इत्यर्थः । तत्त्वं सत्यं भूतमिति पर्यायाः ।

...संवृतिसत्यं परमौदार्यसाधनमधिकृत्योक्तम् । परमगाम्भीर्यसाधनं परमार्थसत्यमधिकृत्याह—तावपि देवतामन्त्रौ परमार्थतो न स्तः । ...प्रपञ्चैर्विपर्यासौ भ्रान्तिरित्येकोऽर्थः । तत्र

सर्वभ्रान्तीनामगोचरत्वाद् धर्मधातुरप्रपञ्चः। तदालम्बनं सम्यग्ज्ञानं महासुखमयं सर्वभ्रान्ति-
निमित्तानामस्तङ्गमादप्रपञ्चम्। तेनैव सम्यग्ज्ञानेन सबीजसंक्लेशक्षयात् प्रतिष्ठादेहभोगनिर्भासानां
च विज्ञप्तीनां प्रहाणादनास्त्वो धर्मधातुरप्रपञ्चः। त्रयमिदं विशुद्धाकाशनिभमनन्तमप्रपञ्चम्,
धर्मकायमित्यर्थः। तदेव स्वभावः, तेन स्वभावेन साक्षात्कर्तव्याविति भावः। (पृ० 55)

तत्त्वयोगः सहजानन्दयोगः। (पृ० 103)

तथागतानां बीजम्

तथागतानाम् इति वैरोचनरत्नेशमिताभामोघसिद्धयक्षोभ्याणां यथाक्रमम्। बुद्धि-
मात्रतायां मन इति 'बुँ', आत्मनः सर्वबुद्धिसमतायां मन इति 'आँ', जगतः शुद्धिनिरूपणायाम्
ईश्वरं मन इति 'ज्रीँ', स्फुरणैः खव्यापकं मन इति 'खँ', देहश्चासौ हूतिश्च मनश्चेति 'हूँ'। तथा
चोक्तम्—

“हूँकारं कायवाक्चित्तं त्रिवज्राभेद्यसमावहम्”। इति। (गु० स० 11.3)
(पृ० 30)

तथागताः

यथा गन्तव्यं तथैव गता इति तथागताः, सवासनसर्वावरणप्रहाणात्। अथवा गतशब्दो
ज्ञानार्थः। यथैव धर्मास्तथैव गतं ज्ञानमेषामिति तथागताः, सर्वदा सर्वाकारसर्वज्ञेय-
सम्यग्ज्ञानात्। अथवा व्यत्ययेन दकारस्य तकारः। यथा गदितव्यं तथैव गदन्तीति तथागताः,
यथाशयं यथागोत्रं यथाकालं च विनेयजनेभ्यः सम्यग्धर्मदेशनात्। सर्वे च ते तथागताश्च, तेषां
कायवाक्चित्तं स एव वज्रधरः। (पृ० 4)

तथतायां गत इति सुविशुद्धतथतैकरसे धर्मकाये स्थितः। श्रीमान् इति सर्वबुद्ध-
धर्मेश्वरः, न तु श्रावकादिः। आगतश्चेति तस्या एव तथतायाः सकाशादागतस्तन्निष्यन्दाभ्यां
सम्भोगनिर्माणकायाभ्यां जगदर्थकरणाय। एवं तथतागतशब्दयोरेकशेषः। मध्यतकारस्य नैरुक्तो
लोपः। एवं तावत् सर्वे तथागताः। (पृ० 54)

तन्त्रम् (चतुर्विधम्)

चतुर्णां क्रिया-चर्या-योग-योगोत्तराणां यत्तत्र हसितप्रेक्षिताभ्याम् आलिङ्गनद्वन्द्वकैश्च
लक्षितम्।

तथा हि—क्वचित् क्रियादितन्त्रे देवतानां प्रज्ञोपाययोरनुरागसूचकं स्मितम्,
क्वचिन्मूर्तो प्रेक्षणम्, क्वचिदालिङ्गनम्, क्वचिद् द्वन्द्वम्। इत्थम्भूतेनापि क्रियादितन्त्रेण न

शब्दितं न कीर्तितं सन्ध्याभाषम्। केवलं योगनिरुत्तरतन्त्रैरेव कीर्तनीयम्। तस्मात् परमगुह्यमिति भावः। (पृ० 169)

तन्त्रम् = हेवज्रतन्त्रम् (त्रिविधम्)

तन्त्रमिति। प्रबन्धस्तन्त्रम्। तच्च त्रिविधम्—हेतुतन्त्रं फलतन्त्रम् उपायतन्त्रं च। अतएव हेवज्रोऽपि त्रिविधः—हेतुहेवज्रः फलहेवज्र उपायहेवज्रश्च। हेतुर्गोत्रं कुलमिति पर्यायाः। इह तु वज्रकुलमेव महाकरुणाप्रज्ञाप्रधानानां कुशलानां भाजनत्वेन हेतुहेवज्रो हेतुतन्त्रं चोच्यते। तत्कथं हेवज्रः? हेवज्रहेतुत्वात्। वज्रकुलीनां सत्त्वानां बहुत्वात् हेतुहेवज्रबलाद् उपायहेवज्रचिराभ्यासलभ्यं महावज्रधरपदं फलहेवज्रः फलतन्त्रं चोच्यते। तत्कथं हेवज्रः? हेवज्रफलत्वात्। कथं प्रबन्धः? अनन्तबुद्धधर्ममयत्वात्। महाकरुणा-प्रज्ञाप्रधानं तु कुशलप्रबन्धो मुख्यो हेवज्रो मुख्यमुपायतन्त्रम्। (पृ० 9)

हेरुकः फलहेवज्रः, तस्योत्पत्तिः तत्पदप्राप्तिः, तस्याः कारणम् उपायतन्त्रमित्यर्थः।

(पृ० 10)

...यावन्तः कुशला धर्मा महायाने भाव्यन्ते तावतामेकरसः सम्यग्बोधो मण्डलाधि-पतिः, प्रभिद्य सम्यग्बोधो मण्डलम्, तैरेव जगदर्थक्रिया मण्डलस्फुरणम्। त्रयमेतदत्र कायत्रयस्य सुखमाशु च प्राप्तये भावनीयम्। परिशिष्टं तु कुशलमस्या एव भावनायाः सुखमाशु निष्पत्तये। सर्वञ्चैतच्चित्तमात्रतया यथाप्रतिभासमसत्तया च परिज्ञेयम्। एवमेकमुपायतन्त्र-मुत्पत्तिक्रममाश्रित्य निर्दिष्टं प्रसाधितं च। (पृ० 11)

...तत् कथमुपायतन्त्रम्? सत्यमेतत्। यस्तस्य देहाधिष्ठायकत्वेन व्यापित्वेन प्रकाश-मात्रत्वेन निराभासमात्रत्वेन महासुखत्वेन सर्वबुद्धगुणभाजनत्वेन समग्रमहायानसङ्ग्रहत्वेन च मनसिकारप्रबन्धः सर्वतथागताधिष्ठितः स एवात्र मुख्यमुपायतन्त्रम्। केवलं मनस्कार-मनस्कर्तव्ययोरभेदेन प्रख्यानादुपायतन्त्रमपि तदेवोच्यते। (पृ० 16)

तपः

सर्वं कायकर्म तपः। (पृ० 66)

तपोऽवद्यविरतित्रिचेलपरिवर्त्तादि। ...ध्यानसंवरेण अनास्रवसंवरेण करुणया च योगादवद्यविरतिः, अत एव त्रिचेलपरिवर्तनं क्लेशविकल्पनिमित्तमलानामपकर्षणात् त्रिस्नानम्। (पृ० 127)

त्रिकायम्

त्रिकायमित्यादि। सर्वबुद्धानां प्रत्येकमनन्तो निर्माणकायोऽनन्तो धर्मकायोऽनन्तश्च सम्भोगकायस्त्रिकायम्। तद् देहमध्यस्थम्। ...निर्माणादिचक्रत्रयरूपेण चतुःषष्टिदलाष्टदल-षोडशदलाम्बुजाकारेण। (पृ० 183)

त्रिगुह्यम्

त्रिगुह्यं कायवाक्चित्तभेदात्। (पृ० 196)

त्रिलोकम्

ब्रह्मेन्द्रविष्णुरुद्रादयो देवास्त्रिलोकम्। त्रिषु लोकेषु प्रधानत्वात्। (पृ० 31)

त्रैलोक्यम्

दशदिक्त्रयध्ववर्तिनां बुद्धानां कायवाक्चित्तगुह्यानि प्रत्येकमनन्तानि त्रयो लोकाः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रैलोक्यः महावज्रधरः। (पृ० 99)

दशभूमीश्वरः

पृथग्जनबोधिसत्त्वभूमिमेकाम्, बुद्धभूमिञ्चैकां विहाय दशभूमीश्वरो बोधिसत्त्वः कथ्यते। ...बुद्धश्चैकादशभूमीश्वरः कथ्यत इति सम्बन्धः। (पृ० 70)

दशभूमीश्वर इति जन्मकाले, तत ऊर्ध्वं स्थिरचलबोधाद् बुद्ध इति भावः। (पृ० 187)

दशार्धामृतम्

दशार्धामृतं पञ्चामृतम्। पञ्चमो वर्णो नीचतरः। (पृ० 60)

दीक्षा

शिरोमुण्डनादि दीक्षा। (पृ० 66)

दृष्टयः (चतस्रः)

शासने सत्त्वानामवतारणाय चतस्रो दृष्टयः पातना वश्या आकृष्टिः स्तम्भना चेति। ...तत्र या सम्मुखप्रेक्षणी क्रोधरसा पुत्तलीभ्यां ललाटाश्रिता सा पातना, या वामाश्रिताभ्यां वामप्रेक्षणी सा वश्या, या ऊर्ध्वाश्रिताभ्यां दक्षिणप्रेक्षणी सा आकृष्टिः, या तु नासा-जडाश्रिताभ्यां सम्मुखप्रेक्षणी सा स्तम्भना।

नासाश्वासो निर्गच्छन् रेचकः, प्रविशन् पूरकः, पूरिताभ्यन्तरः कुम्भकः, प्रविश्य निश्चलीभूतः प्रशान्तः।

आसामभ्यासाय यथाक्रमं चत्वारि लक्षणानि । सरसद्रुमः कुसुमं स्नुहीतरुः प्रचलत्तृणं च । (पृ० 128)

देवता

हेवज्रो वज्रयोगिन्यश्च देवताः । (पृ० 39)

स (बुद्धादिः) एव देवता देहसम्भवादित्यर्थः । पूर्वपदे हलोपः, उत्तरपदे सम्भलोपः । स्वार्थे तलाद् देव एव देवता । देहसम्भवत्वेन सुलभत्वमस्य सूचयति । (पृ० 56)

द्वन्द्वतन्त्रम्

द्वन्द्वतन्त्रं मिथुनाधीनम् रतमित्यर्थः । (पृ० 157)

द्वादश भूमयः

एता द्वादश इति पीठादयः, भवन्त्यस्यामिति भूमयः । के भवन्ति? बुद्धबोधिसत्त्वाः । ...पीठादिभिर्भूमिभिरित्यर्थः । अधिमुक्तिचर्या-प्रमुदिता-विमलादीनां समन्तप्रभासापर्यन्तानां ज्ञानभूमीनामेव यथायोगं मुद्रापीठादय इति भावः । (पृ० 70)

धर्मोदयोद्भवं ज्ञानम्

धर्मा आर्यधर्मास्तेषामुदयोऽस्मिन्निति धर्मोदयः, धर्मधातुरित्यर्थः । तन्मुद्राऽपि धर्मोदयः, धर्मधातुरित्यर्थः । इह तु तत्साधर्म्यात् पद्मस्तथोक्तः । पद्मे योगिनस्तदधिमोक्ष-सञ्जननार्थम् । तस्मिन्नुद्भवोऽस्येति धर्मोदयोद्भवं ज्ञानम् । (पृ० 99)

ध्यानम्

भावनापरिनिष्पत्तिः सुखं ध्यानम् । (पृ० 58)

मरणं...तथैव चिरं भाव्यमानेन महासुखेन ...यदवस्थेन, इह मरणं भवति, ...तदवस्थं, तन्महासुखध्यानमुच्यते भावनापरिनिष्पत्तेः । ...मरणं मोक्षः । येन सुखेनेति दार्ष्टान्तिक-सहजेन । इह तत्सुखं ध्यानमिति । (पृ० 59)

नगरम्

नगरं पाटलिपुत्रम् । (पृ० 70)

नटी

नटीति पटुः, प्रज्ञा च । (पृ० 52)

नाड्यः (द्वात्रिंशत्)

(ललना) प्रज्ञास्वभावेन इति प्राधान्येन चन्द्रवहत्वात् । (रसना) उपायेनेति उपाय-स्वभावेन रक्तवहत्वात् । अवधूती ग्राह्यग्राहकवर्जिता इति अवधूतविकल्पत्वाद् अवधूती,

अद्वयबोधिचित्तमात्रवहत्वाद् ग्राह्यग्राहकवर्जिता । ...शिरःकण्ठहन्नाभियोनिमध्यम् । इदमिह प्रधाननाडीत्रयं नैरात्म्ययोगिनी । ...अभेद्या शिरसि स्थिता नखदन्तवहा । सूक्ष्मरूपा शिखायां केशरोमवहा । दिव्या दक्षिणकर्णे त्वङ्मलवहा, वामा पृष्ठवंशे पिशितवहा । वामनी वामकर्णे स्नायुवहा । कूर्मजा भ्रूमध्ये अस्थिमालावहा । भावकी चक्षुषोर्वृक्कवहा । सेका बाहुमूले हृदयवहा । दोषा इति दोषावती कक्षयोश्चक्षुर्वहा । विष्टा इति महाविष्टा स्तनयोः पित्तवहा, मातरा नाभौ फुफ्फुसवहा । शर्वरी नासाग्रे अन्त्रमालावहा । शीतदा मुखे पार्श्वतन्तुवहा । ऊष्मा कण्ठे उदरवहा । ...प्रवणा हृदये विष्टावहा । हृष्टा इति हृष्टवदना सा लिङ्गे सीमान्तमध्यगा । स्वरूपिणी मेढ्रे श्लेष्मवहा । सामान्या गुदे पूयवहा । हेतुदायिका ऊर्वोः शोणितवहा । वियोगा जङ्घयोः प्रस्वेदवहा । प्रेमणी पादाङ्गुलीषु मेदोवहा । सिद्धा पादपृष्ठेऽश्रुवहा । पावकी अङ्गुष्ठे खेटवहा । सुमना जानुद्वये बालसिङ्घाणकवहा । हृत्कमलस्य कर्णिकादिगदलेषु यथाक्रमम्—

त्रिवृत्ता-कामिनी-गेहा-चण्डिका-मारदारिकाः । (पृ० 19-21)

निकायाः (चत्वारः)

निकाया इति भिक्षुसंघाः । ...द्वितीयकल्पस्य चतुर्थे पटले—

स्थावरी निर्माणचक्रे तु निर्माणं स्थावरं यतः ।

सर्वास्तिवादो धर्मचक्रे धर्मो वादसमुद्भवः ॥

संविदी सम्भोगचक्रे च कण्ठे संवेदनं यतः ।

महासंघी सुखचक्रे च महासुखं के स्थितं यतः ॥ इति ॥ (हे० तं० 2.4.59-60)

(पृ० 24-25)

निर्वाणम्

निर्वृत्तित इति मोक्षरूपत्वादित्यर्थः । निर्वृत्तिर्निर्वाणं मोक्षो निःश्रेयसं बुद्ध इति पर्यायाः । (पृ० 56)

निर्वाणं विनाशः । (पृ० 90)

निस्तरङ्गम्

तरङ्गा विकल्पाश्चलत्वात्, तत्क्षयान्निस्तरङ्गम् । (पृ० 123)

पञ्चज्ञानानि (बुद्धानाम्)

समासतः पञ्चज्ञानानि बुद्धानाम्—आदर्शज्ञानं, समताज्ञानं प्रत्यवेक्षणाज्ञानं कृत्या-
नुष्ठानज्ञानं सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानं च ।

अत्र आदर्शज्ञानेन स्वभावेन तद्वांश्चन्द्रः लोकप्रसिद्धः। सप्तसप्तिः सूर्यः, समतावान् समताज्ञानस्वभाव इत्यर्थः। बीजेन जनितं सहितं च स्वदेवताचिह्नं प्रत्यवेक्षणम्, प्रत्यवेक्षणा-ज्ञानस्वभाव इत्यर्थः। ...अनुष्ठानमिति कृत्यानुष्ठानज्ञानमित्यर्थः। ...चन्द्रार्कचिह्नबीजपरिणामेन स्वदेवताकारनिष्पत्तिः। सा शुद्धधर्मता सुविशुद्धधर्मधातुज्ञानमित्यर्थः। (पृ० 76-77)

परमरतिः

परमरतिः परमा प्रज्ञा निष्प्रपञ्चज्ञानम्, तस्यां भाव्यमद्वयं विज्ञप्तिमात्रं न भावकाच्चित्तादन्यद् भाति। भावकमपि चित्तं न तस्माद् भाव्यादन्यद् भाति, उभयोरभेदेन प्रख्यानात्। (पृ० 122)

परमानन्दः

रतिः परमानन्दः, सैव द्वन्द्वं सविकल्पत्वात्। (पृ० 204)

परमार्थः

परमस्य लोकोत्तरज्ञानस्यार्थो विषयः। (पृ० 52)

परं तत्त्वानि (सप्त)

फलतत्त्वं हेतुतत्त्वं मार्गतत्त्वं कर्मतत्त्वं कारकतत्त्वं ईश्वरतत्त्वं प्रभुतत्त्वं। ...निरुपमसुविशुद्धशाश्वतसुखलक्षणं हि महासुखं फलतत्त्वं परमम्। तस्य निर्देशो महत्सुखमिति, स्वसंवेद्यमिति वर्तते। स्वसंवेद्यमेव तत्, भावलक्षणत्वादित्यर्थः। सिद्धिर्बोधिः, सा स्वसंवेद्यादेव भवेत्। तदेव परमं हेतुतत्त्वं, भावस्यैव जनकत्वादित्यर्थः। ...स्वसंवेद्यमेव भावना। तस्मात्तदेव परमं मार्गतत्त्वमित्यर्थः। ...स्वसंवेद्यात्मकं कर्म, तदेव परमं कर्मतत्त्वं-मित्यर्थः। द्विविधं हि कर्म-ज्ञानं प्रहाणं च। क्लेशज्ञेयावरणक्षयः प्रहाणम्, ज्ञानं बोध-स्वभावाः सर्वबुद्धधर्माः। ...कर्म भवति, स्वसंवेद्यमेव। न हि मार्गस्य व्यापारो मार्गादन्यः। मार्गः करणम्, कर्ता बोधिसत्त्वः। यस्तयोरावरणयोर्हर्ता ज्ञानस्य कर्ता। अतः कर्तृत्वं परमं निष्ठागतो बोधिसत्त्वः।

...तद् व्यतिरिक्तस्य कर्तुरभावादिति भावः, यस्य ते ज्ञानप्रहाणसम्पत्ती भवतः। स सर्वलोकोत्तमत्वान्नलोके परम ईश्वरः। ...यस्तया स्वार्थसम्पत्त्या सर्वदा सर्वाकारपरार्थक्रियायै प्रभवति स सत्त्वानां परमः प्रभुः। (पृ० 97)

पाण्यासि:

पाण्यासिराश्लेषः, सा प्रज्ञा, सर्वस्पर्शेन प्रकृष्टज्ञानत्वात्। (पृ० 157)

पादलेखः

पादलेखः पादप्रतिबिम्बं रजःपङ्कजलादिभिः, तन्मण्डललिखनमिति महान् संक्षेपः।

(पृ० 58)

पादलेख एव यागः। (पृ० 66)

पिचुवज्रः

पिचुः प्रकृष्टतूलः सर्वानुग्राहकत्वेन पिचुसाधर्म्यात् पिचुश्चासौ दुष्टनिग्राहकत्वेन वज्रसाधर्म्याद् वज्रश्चेति पिचुवज्रः। (पृ० 30)

पिशुनवज्रः

तदेव पिशुनवज्रो रत्नसम्भवः। परमार्थप्रकाशनात् पिशुनः। (पृ० 152)

पिशुनेन रत्नसम्भवेन। (पृ० 192)

पुद्गलवादिनः

पुनः पुनर्गतिषु लयनात् पुद्गल इत्येके पुद्गलवादिनः। ...पूर्यते कर्माभिः गलति तेषामेव निर्जरणादेवं पुद्गल इत्यपरे पुद्गलवादिनः। (पृ० 115)

पौषधम्

पौषधं पौर्णमास्यादौ श्वः सूर्योदयावधिकम् अष्टशिक्षापदम्। (पृ० 222)

प्रज्ञा भवान्तकी

प्रतिभासमानस्यापि देहस्यालीकत्वेन प्रख्यानम्, सरोजले शरच्चन्द्रतारकवत्। स एव लयः प्रज्ञा, तस्मादसौ भवान्तकी। (पृ० 140)

प्रज्ञोपायः

प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञा, धर्मकाय इत्यर्थः। तत्प्रसूतयोः सम्भोगनिर्माणकाययोरभिन्नं रूपम्। निरवधि सर्वाकारजगदर्शसाधनसामान्यमुपायः। ताभ्यां जात इत्यर्थः। (पृ० 99)

उपायः करुणा सर्वसत्त्वेष्वात्मसमतानुभवः। सर्वधर्मेषु द्वयशून्यतादर्शनं प्रज्ञा, ताभ्यां व्यतिमिश्रम्, सत्त्वासत्त्वानामेकरसेन प्रकाशात्मना प्रख्यानात्। (पृ० 114)

प्रज्ञोपायमिति स्वविद्यादेहः, स्वदेहः। (पृ० 140)

प्रतिष्ठा लक्षणम्

प्रतिमासु देवतानामवस्थानं प्रतिष्ठा । तस्या लक्षणं स्वरूपम् । (पृ० 131)

प्रथमानन्दः

प्रथमानन्द इति आनन्दमात्रम् । (पृ० 156)

प्रभुः

यस्तया स्वार्थसम्पत्त्या सर्वदा सर्वाकारपरार्थक्रियायै प्रभवति । स सत्त्वानां परमः

प्रभुः, । (पृ० 97)

लक्षणानुव्यञ्जनोज्ज्वलशरीरस्तत्रोत्पन्नानां बोधिसत्त्वानां प्रभुः, धर्मसम्भोगैर्भर्ता ।

(पृ० 147)

प्रभुं वज्रधरम् । (पृ 160)

प्रेतपक्षः

प्रेतपक्षः कृष्णपक्षः । (पृ० 71)

फट्कारः

नानात्वकल्पनानां पातनार्थः फट्कारः । (पृ० 29)

फट्कारो दुष्टानां पातनार्थः । (पृ० 30)

फलम् (चतुर्विधम्)

फलमित्यादि... निष्पन्दफलं विपाकफलं पुरुषकारफलं वैमल्यफलं चेत्यर्थः । अथैतानि फलानि को भुङ्क्ते कश्च ददातीत्याह—कर्मभुग् इत्यादि । कर्मफलानां निष्पन्दादीनां भोक्त्री प्रज्ञैव नात्मा, कर्मैव दायकं नेश्वरः ।

कायचतुष्टये निष्पन्दादिलक्षणं... निष्पन्दो हेतुसदृश इति लक्षणम्, तच्चास्ति निर्माण-काये । यथा हि हेत्ववस्थायां कृतं कर्म ददाति तथा भुङ्क्ते फलं निर्मितः कायः, उभयोरविकल्पत्वाद् । विपाकं तद् विपर्यासं सदृशाद् विपरीतम्, अधिकमित्यर्थः । एतच्च लक्षणं धर्मकायेऽस्ति, सजल्पत्वात् । पुरुषकारमुपार्जनं कुशलानाम्, तच्च देशनादीनाम् । तस्मात् सम्भोगकायः पुरुषकारफलम् । चतुर्थं फलं वैमल्यम् । तत्र योगविशुद्धिः योगजं ज्ञानं योगः, तेन शुद्धिः, सुविशुद्धं महासुखम्, तस्माद् वैमल्यं महासुखचक्रम् । (पृ० 185)

बलि:

बलि: पूजोपहारः। (पृ० 29)

बुद्धतीर्थिका:

बुद्धस्य तीर्थिका बुद्धतीर्थिकाः। कथं ते बुद्धस्य? बुद्धस्यैव शास्तुरभ्युपगमात्। कथं तीर्थिकाः? बुद्धशासनसारेऽपि वज्रयाने प्रद्वेषात्। (पृ० 150)

बुद्धरत्नकरण्डकः

बुद्धा एव रत्नानि तेषां करण्डकः, तत्रैव तेषामेकरसेन कायेन महासुखसंवेदनात्।

(पृ० 145)

बुद्धविहाराः (चत्वारः)

चत्वारो बुद्धविहाराः—ईर्यापथविहारः, देशनाविहारः, समापत्तिविहारः, प्रति-संलयनविहारश्चेति। समाहितो हि चारो विहारः। नित्यसमाहिताश्च भगवन्तो बुद्धाः। तस्माद् यत्किञ्चिद् बुद्धानां भगवतां कायकर्म स तेषाम् ईर्यापथविहारः। यत्किञ्चित् तेषां वाक्कर्म, स देशनाविहारः। यत् तेषां समाधिसमापत्तौ प्रकृतिसमाहितं वा मनस्कर्म स समापत्तिविहारः। यद् बुद्धानां दृष्टधर्मसुखविहारे देवताद्युपसङ्क्रमणे च मनस्कर्म स तेषां प्रतिसंलयनविहारः।

(पृ० 3)

बुद्धः

बुद्धः ...संबुद्ध इत्यर्थः। ऐश्वर्यादयश्च ते गुणाश्च, अखिला इति समग्राः। तथा चोक्तम्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य यशसः श्रियः ।

रूपस्यार्थप्रयत्नस्य षण्णां भग इति स्मृतः ॥ इति ॥

एतस्मिन् पक्षे भगा अस्य सन्तीति विग्रहः कार्यः। (पृ० 56-57)

नाथः इति बुद्धश्चेत्यर्थः। (पृ० 70)

वस्तूनि सर्वधर्माः, तेषां धर्माः सर्वाकारज्ञानम्, ततोऽहं बुद्धः। निराभासेन च ज्ञानेन धर्माणां सामान्यलक्षणमेव तथताख्यं दृश्यते, न विशेषलक्षणानि। अनन्तानि तानि तत्प्रतिभासेनादर्शज्ञानेन दृश्यन्ते। तत्परिच्छेदकेन च प्रत्यवेक्षणाज्ञानेन परिच्छिद्यन्ते चोभे ज्ञाने संभोगकायः। तस्मात् त्रिभिः कायैरहं बुद्धो नैकेन, संभोगनिर्माणकायौ विना स्वपरार्थसम्पदोः

परिपूरणाभावान्न च तावत्यन्तं भ्रान्तौ, यथा—प्रतिभासमसत्तया मायोपमादित्वेन प्रख्यानात्।
अत एव शुद्धलौकिकविकल्पः संभोगकायो धर्मकायनिष्यन्दश्च कथ्यत इति। (पृ० 145)

तथाहि तथैव सुविशुद्धा बुद्धः, सा च प्रकृत्यैव सुविशुद्धा। (पृ० 188)

बुद्धाः (पञ्च)

अत्र द्वेष-मोह-पैशुन्य-रागेष्ट्या-यथाक्रमम् अक्षोभ्य-वैरोचन-रत्नसम्भव-अमिताभ-
अमोघसिद्धयः। (पृ० 175)

बोधिचित्तं (पारमार्थिकं)

पारमार्थिकं बोधिचित्तं मुख्या प्रज्ञापारमिता, सर्वावरणप्रतिपक्षो मार्ग उत्पद्यते। तेन
प्रतिपक्षेणालयविज्ञानसंनिविष्टानां सर्वसाङ्क्लेशिकधर्मबीजानां वासनानां परिक्षयात् प्रतिष्ठा-
देहभोगनिर्भासानां विज्ञानानां निरोधात् तदालयविज्ञानलक्षणत्यागादनास्रवधातुलक्षणं परि-
गृह्णाति। स एवानास्रवो धातुर्बुद्धानां धर्मकायः। तत्प्राप्तौ तदधीना सम्भोगनिर्माणकाय-
प्राप्तिरिति सिद्धान्तः। (पृ० 12)

ततः सर्वधर्मप्रतिभासं चित्तमुत्पाद्य चित्तमेवेदमसत्यपि ग्राह्येऽर्थेऽर्थप्रतिभासं भ्रान्त्या
उत्पद्यते, तद्यथा स्वप्न इति निश्चित्य भ्रान्तिपरित्यागाय सर्वं नीलपीतादिकमर्थप्रतिभासं परिहृत्य
तद्बिम्बप्रतिभासम् आत्मनश्चित्तं शरन्मध्याह्ननिर्मलनभोनिभं निराभासं प्रकाशमात्रमनन्तं
पश्येत्। इदं तत् पारमार्थिकं बोधिचित्तम्, इयमसौ मुख्या प्रज्ञापारमिता, इदमेव च परमं
शून्यताज्ञानम्। (पृ० 82)

तदेव स्वसंवेद्यं धर्मकायस्वभावं बोधिः। बोधिनिष्यन्दं चित्तं बोधिचित्तम्।
साम्भोगिककायस्वभावं सूक्ष्माकारयोगाद् वज्रधरमूर्तिरित्यर्थः। (पृ० 88)

सर्वधर्मेषु द्वयशून्यताऽनुभवो निराभासः शून्यता, शून्यतयैव सर्वसत्त्वेष्वात्म-
समताऽनुभवः, सहजसुखसंयोजनः करुणा, ताभ्यां भिन्नं मिश्रं संयुक्तं चित्तं बोधिचित्तम्।

(पृ० 126)

बोधिचित्तमेव हेवज्रः। (पृ० 127)

बोधिचित्तेनेति मायोपमादिप्रतिभासेन निराभासेन वा चित्तेन। (पृ० 167)

बोधिसत्त्वाः

बोधिः प्रज्ञा, तस्याः पुत्रका बोधिसत्त्वाः। (पृ० 236)

बोधि:

स्वरूपं च सर्वधर्माणां द्वयशून्यमेव, तस्य दर्शनं शून्यतादर्शनमेव । तदेव च बोधिरिति बुद्धा एव सर्वसत्त्वाः । ...चित्तमेव बोधिः सत्त्वानां तथा प्रागपि तेषां चित्तसमतया । (पृ० 90)

बोलसौख्यम्

बोलसौख्यम् इति नाभेरकारे बोलाग्रं गते हृदयादकाराग्रं गतो हूँकारो बोलसौख्यम्, सा महामुद्रा, योगिनो हेरुकदेवस्य संवर इत्यर्थः । (पृ० 183)

ब्रह्मा

यत एव सुविशुद्धबोधरूपत्वाद् असौ बुद्धस्तदेव परं ब्रह्म, तस्मात् स एव ब्रह्मा ।

(पृ० 56)

ब्राह्मणी

ब्राह्मणीति अवद्यभीरुः । (पृ० 52)

भगम्

त्रिकोणत्वेन भगसाधर्म्यात्, सर्वावरणभञ्जकत्वाच्च शरच्चन्द्रधवला महती धर्मोदय-मुद्रा भगम् । (पृ० 74)

धर्मोदयः सैव त्रिकोणा मुद्रा, तस्मिन् उद्भवो माहेन्द्रादिचतुर्मण्डलपरिणामेनास्येति ।

(पृ० 75)

त्रिकोणेन इति धर्मोदयेन परिच्छिन्नं कमलबाह्यं कूटागारस्थानम्, तच्च पुटद्वय-भावकचित्तेन निराभासेन शुद्धस्फटिकसंकाशेन व्याप्तम् । (पृ० 75)

भगवान्

भगवान् इति हेवज्रमूर्तिर्वज्रधरः । ऐश्वर्यादयः षट् समग्रा भगाः । यथोक्तम्—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य ज्ञानस्य यशसः श्रियः ।

रूपस्थार्थप्रयत्नस्य षण्णां भग इति स्मृतिः ॥ इति ॥

भगा अस्य सन्तीति भगवान् । (पृ० 2-3)

भगवान् इति कायद्वयसङ्ग्राहक उपायः । (पृ० 100)

भगिनी

भगिनीति स्थिरस्नेहा । (पृ० 52)

भगिनीति योगिनी । (पृ० 67)

भवः

भवत्यस्मादीति भवः । अव्यवहितं कारणमित्यर्थः । (पृ० 90)

पुनर्जन्मनि जन्मप्रबन्धः, स एव भवः संसारः । (पृ० 102)

भावना

समाहिता प्रतिपत्तिरनुष्ठानं परिस्पन्दः समापत्तिः सा भावना, भावनायाः फलं सहजानन्दद्वयम् । (पृ० 87)

भावाभावात्मकम्

भावो योगिनः शरीरम्, अभावस्तस्यैव वेदनादयो ग्राहकाकाराः, तावात्माऽस्येति तथोक्तः, तयोरपि तेनैव प्रकाशात्मना प्रख्यानादाध्यात्मिकेनाकारभेदेनास्तङ्गमात् । (पृ० 114)

भूतकोटिः

शून्यतैव परं तत्त्वम्, यथा हि सा भूतकोटिरुच्यते । भूतानि तत्त्वानि, तेषां कोटिरग्रम् । (पृ० 96)

भ्राता

भ्रातेति योगी । (पृ० 67)

मण्डलचक्रम्

नैरात्म्यामण्डले चन्द्रसूर्यसम्यक्प्रयोगोत्पन्नं बीजम्, तदुत्पन्नं देवीयोनिमध्ये बीजं बोधिचित्तम् । श्रीहेरुकमण्डले तु पञ्चज्ञानविलीनं बोधिचित्तम् । उभयमेतन्महासुखम् । तदेव सारः मण्डम् । लाति लात्वा गृह्णाति, तत्स्वभावेन कायोत्पादस्तु सारग्रहणाद् मण्डलं मतमिति । मीलनमिति देवताः । चक्रमिति लक्ष्यम्, गणस्य पर्यायः सर्वैकीभाव इत्यर्थः । खधात्वादिना लक्षणमाख्यातम् । खसाधर्म्यात् खधातुरिति तथता । अतः खत्वे सति योगिनां पुष्टिकारी चापि खधातुः । विषयादीनां प्रत्येकं या शून्यता, सा योगिनीचक्रमित्यर्थः । (पृ० 161)

मण्डलम्

मलनाद् इति हेवज्रेणाक्रमणाद् हेवज्रधारणाद् वा । मल इति धातुरकारः प्रत्ययो णडागमश्चेति भावः । (पृ० 58)

मण्डलं कूटागारम् । ...तेषामाधारः समाधिः, स्थितिहेतुत्वात्, स च चित्तधर्मः, तस्मात्तन्मण्डलं च । (पृ० 127)

मण्डलेशम्

मण्डलेशमिति मण्डलाधिपतिं, नैरात्म्यामित्यर्थः। (पृ० 77)

मध्यमकम्

मध्यमकम् इति मध्यमां प्रतिपदम्, तदपि चित्तं न सत् द्वयरूपेण, नासत् द्वयशून्येन रूपेणेति। (पृ० 223)

मध्यमा

मध्यमा सुखावस्था प्रथमानन्दः। ...स कथं मध्यमः? हीनत्वात्, लोके हि काङ्क्षा-हीनमपि मध्यममित्युच्यते, तद् यथा मध्यमा वार्ता मध्यमं शरीरमिति सापि प्रथमानन्दरूपा मध्यमा सम्बोधिरूपेण नोपलभ्यते। ...मध्यमा तु बोधिरपि न भवति, स्पर्शालम्बनत्वात्।

(पृ० 117)

मन्त्रजापः

मन्त्रः प्रणवादिः, तस्य जापो जल्पनम्। ...तदेव तत्त्वार्थमननाज्जगत्त्राणाच्च मन्त्रः। प्राबन्धिकत्वाज्जापः। (पृ० 127)

मन्त्रध्यानम्

सर्ववाङ्मनसः कर्म मन्त्रध्याने, डमरुध्वनिखट्वाङ्गधारणेऽपि मन्त्रध्याने, वज्रगीत-वज्रनृत्ते अपि मन्त्रध्याने। (पृ० 66)

मन्त्रनयम् (पञ्चविधम्)

(मन्त्रनयं) पञ्चविधम्-क्रिया-चर्या-योग-योगान्तर-योगनिरुत्तरभेदेन। (पृ० 223)

मन्त्रभेदः

मदौद्धत्यकोपादिभिः स्वयं तथा सहायेन वा परस्मै कथनं मन्त्रभेदः। (पृ० 53)

मन्त्रः

तत्त्वार्थमननाज्जगत्त्राणाच्च मन्त्रः, समाधिजं बोधिचित्तमित्यर्थः। मन्त्रनिष्यन्द-त्वान्मन्त्रः ॐकारादिः। (पृ० 29)

महाकृपः

परमरौद्रादिभिः सर्वोपायैः परार्थकरणाशयत्वान् महाकृपः। (पृ० 5)

महाज्ञानम्

महच्च तत् सर्वबुद्धधर्मबीजाधारत्वात्, ज्ञानं च प्रकाशनिजरूपत्वादिति महाज्ञानम्।
...हेवज्र इति प्रकृतम्, तदेव महाज्ञानं हेवज्रः। (पृ० 14)

...महाज्ञानं कथं हेवज्रः? महाप्रज्ञामहाकरुणास्वभावत्वात्। तदेव कुतः?
निरवधिसर्वाकारसर्वजगद्धितसाधनेषु सर्वबुद्धधर्मेषु बोधिसत्त्वधर्मेषु च भावनालभ्यस्वभाव-
भूतेषु तस्य प्रकृत्यैव भाजनत्वात्। (पृ० 15)

द्वयशून्यताऽनुभवरूपत्वान्महाज्ञानम्। (पृ० 160)

महानन्दः

महानन्द इति सुरतानन्दो वज्रधरः। (पृ० 151)

महाबोधिसत्त्वः

...निरवधि विश्वार्थसाधनी बोधिर्महाबोधिः, तस्यां सत्त्वमभिप्रायोऽस्येति महा-
बोधिसत्त्वः। (पृ० 5)

महाभूतम्

भूतमुत्पन्नम्, उत्पत्तिश्च नाहेतुका नाप्येकहेतुकेति संस्कृतार्थो भूतशब्दः। सम्भूय
हेतुप्रत्ययैः कृतं संस्कृतम्, यच्च संस्कृतं तदनित्यम्। महाशब्दस्तु प्रकर्षार्थः। तस्मादतीव
बहुयत्नसाध्यम्, अतीव चानित्यमित्ययमत्र महाभूतशब्दार्थः। (पृ० 125)

महामुद्राभिषेकः

मुद्रा प्रज्ञा, मुद्राभिषेकः प्रज्ञाज्ञानम्, महामुद्राभिषेकश्चतुर्थोऽभिषेकः। (पृ० 142)

महारागानुरागः

विचारणापर्यन्तात् पूर्विका प्रीतिरानन्दाख्यो महारागः, तस्यानु पश्चाद् रागः प्रीतिः
अनुरागः, विचारणायाः पर्यन्तः परमानन्द इत्यतः। तदुभयं महारागानुभूतम्, तेन लक्षितम्।

(पृ० 199)

महावज्री

महावज्री हेवज्रः। (पृ० 203)

महासत्त्वः

महाज्ञानानि महायानस्वभावाः शुक्ला धर्माः, तेषां रसा आस्वादाः संभोगाः।
परमोज्ज्वलसत्तरत्नमयेऽनन्तलोकधात्वन्तरस्फुरणमहारश्मिप्रमोक्षे परिशुद्धबुद्धक्षेत्रे विविध-

गुणव्यूहालङ्कारे निरुपमलक्षणानुव्यञ्जनविराजितेन देहेन आर्यबोधिसत्त्वैः सह संभूय भोगाः संभोगास्तैः पूर्णस्तैरेव बोधिसत्त्वैः सह प्रतिक्षणतुल्यः।

यतोऽसौ न कदाचिद् विनश्यति अस्त्रंसनतया नित्यो भवतीत्यर्थः। अस्त्रंसनमणिधरः प्रवाहः। तथाहि परिशुद्धेषु बुद्धक्षेत्रेषु महाधर्मरसप्रीतिसुखैकरूपस्तम्भः सत्त्वानां न कवलीकाराद्याहारैः। कः पुनरसौ महाज्ञानरसैः पूर्णः? साम्भोगिकः कायो बुद्धानां स महासत्त्वेति निगद्यते, महासत्त्व इत्युच्यते। कथं? सीदति तिष्ठति न विनश्यतीति सत्त्वः। महान् सत्त्वो महासत्त्वः। अत्यन्तं न विनश्यतीत्यर्थः। (पृ० 7)

सम्भोगकायेन महासत्त्व इति। (पृ० 8)

महासमयम्

महासमयम् इति गूढसङ्केतम्। (पृ० 168)

महासमयसत्त्वः

अत्र समयशब्देन महासमयो द्रष्टव्यः। पदैकदेशेन पदसंसूचनात्, भीमो भीमसेन इति यथा। स्फुरणयोगेन समन्ताद् गमनं समयः, यथाशयं विश्वविनयनोपायैः सर्वैराकारैः समयो महासमयः। महासमयेन सत्त्वो महासमयसत्त्वः। सततप्रवृत्तत्वात् सत्त्व इति नैरुक्तेन वर्णानां लोपेन। अत एवाह—नित्यं समयप्रवृत्तत्वाद् इति।

यो बुद्धानामनन्तप्रभेदो निर्माणकायः। प्रबन्धनित्यतया नित्यः, स महासमयसत्त्व-शब्देनोच्यत इत्यर्थः, तद्यथा—महत्परण्ये लग्नाग्निः क्वचिज्ज्वलति, क्वचिज्ज्वलित एवास्ते, क्वचिन्निर्वाति, एवं बुद्धानां निर्माणकायोऽन्येषु बुद्धक्षेत्रेषूपपद्यते, अन्येषूपपन्नो विहरति, अन्येषु परिनिर्वाति, न च सर्वलोकधातवस्तेन शून्याः कथञ्चिद् भवन्तीति प्रबन्धनित्यतार्थः। ...निर्माणकायेन महासमयसत्त्व इत्युच्यते। (पृ० 8)

महासंघी

अतिकठिनत्वान्महासंघं शिरः, तद्योगान्महासंघी। (पृ० 186)

महासुखम् (चतुराकारम्)

तयोश्चन्द्रसूर्ययोर्मैला मेलकः समरसरूपान्तरं सामन्तसुखं सर्वताथागतं महामोक्ष-सुखमित्यर्थः। तत्पुनर्महासुखं चतुराकारम्। सूर्यस्योपरि यद् बीजं तत् प्रयोगसुखम्। तदुद्भवं चिह्नं मूलसुखं, चिह्नगर्भबीजं परिच्छेदसुखम्। तस्मादनन्तयोगिनीमण्डलस्फुरणं संहरणं परार्थसुखम्। (पृ० 76)

निरुपमसुविशुद्धशाश्वतसुखलक्षणं हि महासुखं फलतत्त्वं परमम् । (पृ० 97)

महत् सुखमिति साध्यसुखं निष्प्रपञ्चम् । (पृ० 142)

महासुखमयाच्छून्यतादर्शनादभेदात्तदपि महासुखम् । (पृ० 160)

माण्डलेयाः

हेवज्रवज्रागौर्यादयो देवतादेहा माण्डलेयाः । ...बोधिचित्तमेव हेवज्रः, तदेव प्रज्ञात्म-
कत्वाद् योगिनीचक्रम्, तस्मात्तन्माण्डलेयाः । (पृ० 127)

मुदिता

तेष्वेव (सत्त्वेष्वेव) भावयेन्मुदितां तेष्वेव यथोपसंहृतस्य सुखस्य यावत्संसारम-
वस्थापनाकाराम् । (पृ० 39)

ततस्तेष्वेव (सत्त्वेष्वेव) मुदितां सुखावियोगाकाराम् । (पृ० 82)

मुद्रा

मुद्रा प्रज्ञा, ...सर्वधर्मप्रकाशमात्रताप्रत्यवेक्षणं प्रज्ञा । (पृ० 126)

मैत्री

...सर्वसत्त्वेषु दिव्यसुखोपसंहाराकारां मैत्रीम्, प्रथमक्षणे भावयेत् । (पृ० 39)

ततः सर्वसत्त्वेषु दिव्यसुखोपसंहारां मैत्रीं भावयेत् । (पृ० 82)

योगपानम्

हेवज्रस्य सत्यद्वयं करुणा, तस्य पानं सानन्देन तद्योगेन योगद्वयसमुत्थितायाः प्रीतेः
पानं योगपानम् । (पृ० 66)

योगस्य पञ्चावस्थाः

पञ्चावस्था योगस्य—शमथः विपश्यना उभयम् उभयाभ्यास उभयाभिरतिश्च पञ्चमी ।
(पृ० 46)

योगाचारम्

योगाचारम् इति चित्तमात्रमिदं विश्वम्, असत्यर्थेऽर्थप्रतिभासं चित्तमेव वासनाबला-
दुत्पद्यते यथा स्वप्न इति । (पृ० 223)

योगाः (द्वाषष्टि)

एवं तावद् द्विभुजस्य हेवज्रस्य चत्वारो योगा उक्ताः । यथा च द्विभुजस्य चत्वारस्तथा
चतुर्भुज-षड्भुज-षोडशभुजानाम् एवं नैरात्म्यायाः शेषयोगिनीनां चतुर्दशानां प्रत्येकं त्रयो
योगाः, चतुर्थाभावात् । सर्वैकत्वेन द्वाषष्टियोगाः । (पृ० 47)

योगिनीचक्रम्

योगिनी नैरात्म्या, तत्प्रधानं चक्रं योगिनीचक्रम्। (पृ० 74)

स्वसंवेद्यसुखलक्षणं योगिनीचक्रमित्यर्थः। (पृ० 94)

योगिन्यः (पञ्चदश)

योगिनीनाम् इति नैरात्म्या, वज्रा, आभ्यन्तरगौरी, वारियोगिनी, वज्रडाकी, पुक्कसी, शवरी, चण्डाली, डोम्बी, बाह्यगौरी, चौरी, वेताली, घस्मरी, भूचरी, खेचरीणां यथाक्रमम्।

(पृ० 30-31)

योषित्

योषिद् इति वज्रयोषिद् दृष्टान्तयोषिच्च। (पृ० 147)

रक्तम्

रक्तञ्चेति स्त्रीपुष्पम्, अतश्च तेजसो रक्तरूपत्वाद् वर्णतः। (पृ० 192)

रागः

रागः परमानन्दः उत्पित्सुफलाभिलाषत्वात्। तदसौ नोपलभ्यते सम्बोधिरूपेण।

(पृ० 117)

रागः क्लेशरागः, स एवाग्निः, तेन दग्धाः सन्तप्ताः, दुर्गत्यादिदुःखजननात्।

रागस्तत्त्वरागः, स एव वह्निः क्लेशविकल्पेन्धनदहनात्। (पृ० 150)

रागमिति चण्डालीम्। (पृ० 192)

रागारागः

तयोः (रागारागयोः) अपि तथैव (प्रकाशात्मना) प्रख्यानात्। तत्राद्वयज्ञानसहजं महासुखं रागः, अरागस्तथता। (पृ० 114)

रागो भाविनि सुखे साकाङ्क्षता आनन्दे परमानन्दे च, अरागो विघृष्टे सुखे तृप्तस्य निराकाङ्क्षता विरमानन्दे। (पृ० 156)

रजकी

रजकीति शुक्लकर्मरता। (पृ० 52)

रजोलेखः

लिख्यतेऽनेनेति लेखः, रजश्चासौ लेखश्चेति रजोलेखः। (पृ० 112)

रत्नः

स (धर्माकायस्वभावः) एव रत्नः सर्वबुद्धधर्माणां लाभात्। (पृ० 55)

मानो रत्नसम्भवः। (पृ० 98)

रौद्रं कर्म

रौद्रं कर्म द्वेषजं प्राणातिपातादि। (पृ० 150)

लोकोत्तरो मार्गः

...तेन विना न लोकोत्तरो मार्गः। स तु सप्त बोध्यङ्गानि अष्टौ च मार्गाङ्गानीति पञ्चदश धर्माः। (पृ० 149)

लौकिको मार्गः

चत्वारि स्मृत्युपस्थानानि, चत्वारि सम्यक्प्रहाणानि, चत्वार ऋद्धिपादाः, पञ्चेन्द्रियाणि, पञ्च बलानि, द्वाविंशतिर्धर्मा लौकिको मार्गः। (पृ० 149)

वज्रकुलम्

सहजमहाज्ञानरूपो हेवज्र एव वज्रः। तस्य कुलं गृहं योगिनः स्वदेहस्तस्य तथैव यद् भावनं तदिह वज्रकुलालम्बनत्वाद् वज्रकुलमुच्यते। (पृ० 28)

वज्रगर्भः

सर्व एव बोधिसत्त्वाः वज्रगर्भास्तथागतगोत्रा इत्यर्थः। पञ्चैव च मोहद्वेषमानरागेर्ष्याः कुलतथागताः। तत्र यो द्वेषगोत्रः स वज्रगर्भ इति नामेदमन्वर्थम्। (पृ० 5)

वज्रगर्भाभिसम्बोधिः

वज्रो वज्रधरः, तस्य गर्भो हृदयं हेवज्रः, तस्याभिसम्बोधि (वज्रगर्भाभिसम्बोधिः)।

(पृ० 131)

वज्रगीतम्

वज्रमभेद्यत्वात् सत्यद्वयं तेनान्वितं तत्सूचकं वज्रगीतमित्यर्थः। (पृ० 62)

वज्रचतुष्कम् (भावना)

आद्यस्य योगस्य शरीरं वज्रचतुष्कम्, ...शून्यताबोधिम् इत्यादि। विज्ञप्तिमात्रशरीरं विश्वम्, तस्य द्वयेन ग्राह्यग्राहकेण रहितत्वं शून्यता, तस्य बोधिरभ्रान्तं दर्शनं शून्यताबोधिस्तां भावयेत्। कथं भावयेत्? नात्र किञ्चिद् ग्राह्यं वा ग्राहकं वा, विचारासहत्वात्। केवलमसति

द्वये द्वयप्रतिभासत्वाद् भ्रान्तं चित्तमेव ममेदं विश्वप्रतिभासमुत्पद्यते, स्वप्नादिवदिति विचिन्त्य, भ्रान्तिनिमित्तं द्वयप्रतिभासमपनीय तद्विश्वप्रतिभासं स्वचित्तमेव शुद्धस्फटिकसंकाशं प्रकाश-
मात्रमनन्तमद्वयं पश्येत्।

द्वितीयं बीजसङ्ग्रहमिति। तदेव स्वचित्तमनन्तमद्वयं स्वहृदये संहृत्य बालार्क-
मण्डलीभूतं दृष्ट्वा तदुपरि सपरं षष्ठस्वरारूढमिन्दुबिन्दुविभूषितज्वलत्किरणमालिबीजाक्षरं
ध्यात्वा तस्माद् बीजाद् वज्रागौर्यादियोगिनीरनन्ताः स्फारयित्वा तासां तस्मिन्नेव बीजे संहारो
बीजसंग्रहः, तं भावयेत्।

तृतीयं बिम्बनिष्पत्तिमिति। तेन बीजेन हेवज्ररूपस्य स्वदेहस्य बृहत्कमल-
कर्णिकावस्थितशवहतसूर्यारूढस्य सूर्यप्रभामण्डलिनो निष्पत्तिर्बिम्बनिष्पत्तिस्तां भावयेत्।

चतुर्थं न्यासमक्षरमिति। ततः स्वहृदि सूर्यमण्डलं दृष्ट्वा तदुपरि न्यस्तं बीजाक्षरम्।
हत्सूर्यारूढबीजाक्षराकारेण स्वदेवताचित्तरूपेण निष्पन्नं स्वचित्तं भावयेदित्यर्थः। (पृ० 39-40)

वज्रधृक्

वज्रधृगिति हेवज्रधर। (पृ० 158)

वज्रमण्डम्

वज्रास्तथागताः, तेषां मण्डं सारम्। (पृ० 236)

वज्रम्

वज्रम् इति पञ्चविधं बोधिचित्तम्। (पृ० 170)

वज्रयोगः

वज्रस्य योगः प्रयोगः, ...वज्राः सर्वबुद्धाः, तेषां योगः समता महासुखम्। (पृ० 158)

वज्रसत्त्वः

अभेद्यम् इति भेत्तुमशक्यम्। वज्रमित्युक्तम् इति वज्रसाधर्म्यात्। त्रयो भवाः सर्वे
बुद्धधर्माः। भवन्तीति भवाः। कस्मादत्र बुद्धधर्मा एव भवाः? प्राधान्यात्। कुतः सर्वे?
व्याप्तेर्न्यायात्। कथं त्रयः? कायवाक्चित्तभेदेन। त्रय एव भवास्त्रिभवम्, तस्यैकता समता सा
सत्त्वम्। कथं तस्यैकता? सर्वसास्त्रवधर्मबीजक्षयात् प्रतिष्ठादेहभोगनिर्भासानां विज्ञानानां
निरोधात् केवलविमलानन्दनभस्तलनिभे चित्तमलत्यक्तालयविज्ञानलक्षणे अनास्रवधातु-
लक्षणप्राप्ते शक्तिलक्षणे सर्वबुद्धधर्मबीजाधारे निराभासेन प्रकाशरूपेण महासुखमय-
(त्रि)भवस्य यावदाकाशमेव स्थानं त्रिभवस्यैकता। सा कुतः सत्त्वमुच्यते? यतोऽस्यैव

सुविशुद्धता। अत्र हि सतो भावः सत्त्वमिति प्रशस्तपदवाची सत्त्वशब्दः प्रकर्षगतेः विशुद्धतायां वर्तते, धर्मकाय इत्यर्थः। विशुद्धता हि पुरुषस्य विमुक्तकायः। सुविशुद्धता धर्मकायः। बुद्धधर्माणां कायो निवास आश्रयस्तद्वीजाधारत्वादिति धर्मकाय इत्युच्यते। धर्मकायस्य च प्रधानं शरीरमनादिनिधनो धर्मधातुः प्रकृतिप्रभास्वरः सर्वकालं तथैवेति कृत्वा तथताख्यः। अत एव न कदाचिद् भिद्यत इति अभेद्यत्वाद् वज्रः। प्रकृतिनित्यतया नित्य इत्यर्थः। केवलमागन्तुकमलशुद्धिस्तस्य भिद्यते, पूर्वमभावात् प्रमुदितादिभूमिषु क्रमेणोपचयात्, बुद्धभूमौ यावदाकाशं साकल्येन भावात्। ...वज्रश्चासौ सत्त्वश्चेति अनेन वज्रसत्त्व इति स्मृतः उक्तः। छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः। आर्षं हि वचनं, सर्वमेतच्छान्दो न वा किञ्चिदपि। (पृ० 6-7)

...तदयं भगवान् वज्रधरो धर्मकायेन वज्रसत्त्व इति। (पृ० 8)

एवं पञ्चज्ञानमयत्वात् स एव सात्त्विकः वज्रसत्त्व इत्यर्थः। (पृ० 55)

वज्रसत्त्वस्य सत्त्ववज्रस्येत्यर्थः। (पृ० 77)

प्रज्ञोपायस्वभावयोः चन्द्रसूर्ययोः संयोगजबीजोद्भवं देवताचिह्नं वज्रम्, तत्राभिजातं बीजं सत्त्वः, वज्रसहितः सत्त्वो वज्रसत्त्वः। (पृ० 143)

वज्री

वज्रीति ध्यानप्रिया। (पृ० 52)

वज्री वज्रधरः। (पृ० 154)

वज्री गुरुः। (पृ० 159)

वाक्पथातीतगोचरम्

वाक्पथातीतगोचरम् इति वाचां पन्थाः प्रवृत्तिर्वाक्पथः, तस्यातीतगोचरं तद्विषयातिक्रान्तमित्यर्थः। (पृ० 101)

वित्तनायकः

वित्तनायकः कुबेरः। (पृ० 206)

विरजम्

विरजं क्लेशानां प्रहाणात्। (पृ० 114)

विरागः

विरागो विरमानन्दः, फलविनाशत्वात्। ततः सोऽपि संबोधिरूपेण नोपलभ्यते। ...फलविनाशलक्षणो विरमानन्दः। (पृ० 117)

विवृतिसंवृतिभेदः

विवृतिसंवृतिभेदत इति। स्वसंवेद्यं विवृतिः निराभासत्वेन निरावरणत्वात्। यथोदयं संवृतिः, आकारलेशेन किञ्चिदावृतत्वात्। (पृ० 88)

विशुद्धिः

विशुद्ध्यन्त्यनयेति विशुद्धिः, यया प्रकृत्या परिज्ञातया भावाः शुद्ध्यन्ति निर्दोषा भवन्ति, परिज्ञातुः साधकस्य सिद्धिदानात्, सा तेषां विशुद्धिः। ...विशुद्धिस्तथता। ...यदि सर्वं प्रकृत्यैव शुद्धम्, व्यर्थस्तर्हि शुद्धये यत्न इत्यत्राह... अक्लिष्टमज्ञानं ज्ञेयावरणम्, क्लेशा रागादयः क्लेशावरणम्, तैरावृतं मलिनीकृतं विशोध्यते, तेषामेवागन्तुकानां मलानामपकर्षणात्, मलापकर्षणार्थः प्रयत्नेनापूर्वस्वभावोत्पादनार्थ इत्यर्थः। (पृ० 104)

विशुद्धिः स्वसंवेद्यं सुखमनन्तमनाभासमित्यर्थः। (पृ० 111)

विशुद्ध्याकारचेतसा (निर्वाणम्)

विशुद्धिर्मलाभावः प्रभास्वरता, सा आकारः प्रकृतिरस्येति तथोक्तम्। विशुद्ध्याकारं च तच्चेतश्च तेन हेतुना। यस्माद् विशुद्धिर्निर्वाणं तस्मान्न भावः। यस्माच्चित्तमेव विशुद्ध्याकारं तस्मान्नाभाव इति भावः। इयता प्रकृतिप्रभास्वरतैव चित्तस्य बुद्धत्वे बीजमनादिसिद्धमित्युक्तं भवति। (पृ० 148)

विष्णुः

विषणाद् इति तादात्म्येन प्रवेशात्। क्व? परमगम्भीरे धर्मकाये। विशतेः क्तप्रत्ययः, षत्वणत्वे च। (पृ० 56)

वैभाष्यम्

विरागाय भाषा विभाषा, सैव वैभाष्यम्, तच्च श्रावकयानम्-अवदानशतक-त्रिदण्डकमालादि। (पृ० 222)

वैरोचनः

स एव वैरोचनः प्रकाशमात्रतया प्रख्यानात्। (पृ० 55)

मोहो वैरोचनः। (पृ० 98)

वैवस्वतः

वैवस्वतो यमः। (पृ० 206)

शास्ता

शास्ता गुरुः। (पृ० 158)

शिक्षा

कालभोजनादिः शिक्षा। (पृ० 66)

शिक्षापदम् (दश)

यावज्जीवावधिकानि, कायवाग्दुश्चरितेभ्यः सप्तभ्यो विरमणानि, मनोदुश्चरितानां च त्रयाणामकरणम्। (पृ० 222)

शिवः

(शिवः) सदा सुकल्याणाद् इति ध्रुवकल्याणत्वात्, परमकल्याणत्वाच्च। (पृ० 56)

शुक्रम्

शुक्रं ज्ञानरेतः, दृष्टान्ते बाह्यरेतः, तेनेति शुक्रनाम्ना। (पृ० 147)

शुक्राकारः (भगवान्)

योऽसौ द्वितीयः सहज उक्तः शुक्रं तत्, खसमज्ञाननिष्यन्दत्वात्, तदेवाकारोऽस्येति तदाकारः, स एव भगवान् तेनाकारेणोत्पन्न इत्यर्थः। तत्कुतः? खसमज्ञाननिष्यन्दत्वेन तयोरभेदात्। (पृ० 100)

शून्याशून्यम्

शून्याशून्यम् इति ग्राह्यग्राहकविरहादद्वयविज्ञप्तिमात्रं शून्यम्, ततोऽपि शून्याच्छून्यम्। निराभासं विज्ञप्तिमात्रम्, तदेव हेरुकम्, द्वयग्राह्यस्य द्वयप्रतिभासस्य च तेनैव भक्षणात्।

(पृ० 215)

श्मशानम्

पदेषु पदैकदेशा वर्तन्ते, तद्यथा—भीमो भीमसेनः, अः अच्युतः, उः उमापतिः, एवमिहापि शकारः शववाची। वसन्त्यस्यामिति वसतिः, शां वसतिः श्वसतिः, ...एवमनेनार्थ-योगेन...श्मशानमित्युच्यते। अत्र च श्वसतीत्यनेन विग्रहार्थ उच्यमानो विग्रहं सूचयति।

अयं त्वत्र विग्रहः—वसन्त्यस्मिन्निति वसनं निवास इत्यर्थः। शवानां वसनं श्मशानमिति पूर्वपदेऽवभागस्य मत्वम्, उत्तरपदे वसभागस्य शाभावः। नैरुक्तेन वर्णविकारेण। का तत्र तेषां वासक्रिया? चङ्क्रमणस्थानशयननिषद्याः कबन्धोद्धृष्टशयितशूलभिन्नादीनां यथा-क्रमम्। यद्यपि श्वसतीत्यनया युक्त्या श्मशानं तथापि कस्मात् तत्र क्रीडति? अयमभिप्रायः—

यथा श्मशाने निरात्मकाः सत्त्वास्तथा सर्वत्रेति। निरात्मकसर्वसत्त्वावासमुद्रा श्मशानम्। सत्त्वाः सत्त्वस्वभावेन शून्याः, सत्त्वावासा अपि सत्त्वावासस्वभावेन शून्या इति श्मशानार्थः। अतस्तस्मिन्नेवालम्बने निरालम्बनमहाकृपामहाप्रज्ञात्मकमहाबोधिचित्तमहामुद्रास्वभावस्य भगवतः क्रीडा युज्यत इति। (पृ० 46)

सत्त्ववादिनः

एवं सत्त्व इति सत्त्ववादिनः। (पृ० 115)

सन्ध्याभाषा

सन्धिना अभिप्रायेण आभाषणं सन्ध्याभाषम्। (पृ० 154)

सन्धिरभिसन्धिरभिप्रायः, ईषद्भाषणम् आभाषः, अभिप्रायप्रधानं सूचनं नाक्षरप्रधानमित्यर्थः। (पृ० 168)

समयः

यदेव करोति स एवास्य समयः। (पृ० 66)

समाधित्रयम्

तत्र बोधिसत्त्वेन त्रयः समाधयो भावयितव्याः, न सन्ति सर्वभावाः, परिकल्पितैः स्कन्धायतनधातुलक्षणैरिति शून्यः समाधिः, परिकल्पितस्कन्धादिनास्तितालम्बनत्वात्।

दुःखं दुःखहेतुश्च त्रैधातुकं सता परतन्त्रेण स्वभावेन, अभूतपरिकल्पितत्वादसता द्वयरूपेण प्रख्यानादिति अप्रणिहितः समाधिः, पुनर्भवप्रणिधानपरिपन्थित्वात्। द्वयशून्यता सर्वधर्माणां प्रकृतिरनागन्तुकत्वात्। सैव तथता नित्यं तथैव भावात्। सैव भूतकोटिः सर्वतत्त्वानामग्रत्वात्। सैवानिमित्तं भ्रान्तिनिमित्तानामाकाराणां परिवर्जने सति तस्याः प्रख्यानात्। सैव परमार्थः परमस्य लोकोत्तरज्ञानस्य गोचरत्वात्। सैव धर्मधातुः, आर्यधर्माणां बलवैशारद्यादीनां हेतुत्वात्, तामेवालम्बमानानामार्यधर्मोत्पत्तेः। सा चेयं द्वयशून्यता न भावो नाप्यभावः। कुतो न भावः? द्वयाभावलक्षणत्वात्। कुतो नाभावः? सर्वधर्माणां प्रकृतित्वादिति। अयमनिमित्तः समाधिः, अनिमित्तालम्बनत्वात्। एतच्च समाधित्रयं गौणी प्रज्ञापारमिता तत्प्रयोगत्वात्। (पृ० 11-12)

सर्वज्ञज्ञानम्

सर्वज्ञानां सर्वतथागतानामात्मनि तादात्म्येन संवेदनं सर्वज्ञज्ञानम्, तत्खलु वज्रधरत्वम्, तत्स्वभावमेव चराचरं विश्वं तन्मयम्। (पृ० 101)

सर्वाकारैकसंवरम्

सर्वधर्माणामाकारः प्रतिभासमात्रतया प्रतिभासनमस्मिन्निति सर्वाकारम्, एकम् एकरसम्, द्वयसङ्गृहीतानां प्रतिभासानाम् अस्तङ्गमात्, सम्मुखं वरं श्रेष्ठम्, यथोक्तम्— 'प्रशान्तमचलं श्रेष्ठं वशवर्ति समासमम्। निर्विकल्पं सुखम्' इति। सच्च तद् वरं च, एकं च तत् संवरं च सर्वाकारं च, तदेव संवरं चेति सर्वाकारैकसंवरम्। (पृ० 126)

सर्वास्तिवादः

सर्वः सत् वादोऽस्मादिति सर्वास्तिवादः। वादानां समुद्भवः कारणम्। (पृ० 186)

सहजम्

सहजाभ्यां प्रज्ञोपायाभ्याम्, न तु बाह्याभ्याम्। यत् सुखं सहजं तत् परमं सहजम्।

(पृ० 125)

सहजेन बुद्धत्वेन योगात् सहजम्। ...प्रकृतिः प्रकृतिपर्यायः सहजशब्द इति भावः।

(पृ० 148)

सहजानन्दः

तथागतानामेव यः प्रत्यात्मवेद्यो धर्मकायप्राप्तिसहजः खसमस्तन्निष्यन्दभूतश्च सम्भोग-कायसहजः परमोत्कृष्टसुविशुद्धध्रुवसुखलक्षणः सहजानन्दः। (पृ० 92)

अनादिनिधनो हि धर्मकायः सम्बोधिः स एव सहजानन्दः। ...सहजानन्दः सर्वात्मक एव, त्रिष्वानन्देष्वनुगत एव। सुखसामान्येन द्वयशून्यतानुभवसामान्येन चेत्यर्थः। अथवा ...सर्वविवर्जितः त्रिभिरानन्दैः परिहृतः स्वसंवेद्येन विशेषलक्षणेन तेष्वनुगतत्वात्।

...तदनेन सर्वेणैतदुक्तं भवति परमानन्दस्तस्य प्रयोगशीर्षम्, विरमानन्दस्तु तत्पृष्ठभावी स्मार्तो विकल्पः, तयोरन्तराले मौलमनालम्बनं निष्प्रपञ्चसुखं सहजानन्द इति। एवं सम्यगुपलक्षिते सहजानन्दे तमेव भावयतः क्रमेण मेघोपम-मायोपम-स्वप्नोपम-स्वप्न-जागरोपमाख्याश्चत्वारः समाधयो भवन्ति।

...यावत् संयोगभावनया सह भाव्यमानः सहजो न साक्षाद् भवति, तावदसौ मेघच्छन्नवद् भाति, तत्र मेघच्छन्नपूर्णचन्द्रवद् भातीत्यर्थः। यदा तु साक्षाद् भवति तदा सिद्धः। सिद्धे सति मायावद् भवेत्, मनोनिर्मितविद्याबलेन साक्षाद् भावात्। तत ऊर्ध्वं सहसा स्वप्नवद् भाति। संयोगभावनामपास्य तमेव केवलं यथोपदेशं भावयतो योगनिद्रां गतस्य योगिनोऽ-कस्मात्तस्य प्रत्यक्षीभावात्। तत ऊर्ध्वं स्वपिजाग्रदभेदवद् भाति, स्वप्नजागराभ्याम-विशिष्टमित्यर्थः। (पृ० 118-119)

संघकुलानि

यावन्तस्तथागतसंघास्तावन्ति कुलानि । तदर्थमेव पृथक्करणात् । अतश्च संघ-संख्यानि कुलानि, संघकुलानि पञ्चाशद्गङ्गानदीबालुकोपमानि । (पृ० 153)

संभोगे लहरीद्वयम्

संभोग इति विचारणापरिपाके । ...लहरीद्वयं यथा भवति, आशु पीडितं द्वौ वारौ मुञ्चेदित्यर्थः । अथवा द्वौ क्रमौ, एको बाह्यया विद्यया, द्वितीयोऽध्यात्मया । तत्र प्रथमः प्रसिद्ध एव । (पृ० 214)

संवरः

बाह्यानां धर्माणां रूपान्तरमध्यात्मगतं यद् योगी पश्येन्निश्चिनुयाद् वा तत्तेषां संवरं, कायेन संवृतत्वात्, संक्षेपवरत्वाद् वा । (पृ० 22)

यदेव न करोति स एवास्य संवरः । (पृ० 66)

तत्र संवरं सुखवरम् । (पृ० 154)

देहे संवृतत्वात् संक्षिप्ततरत्वाद् वा संवरमिति भावः । (पृ० 182)

संविदी

संविद्योगात् संविदी । (पृ० 186)

सिद्धान्ताः

सिद्धान्ताः श्रावकपिटकस्य सूत्रान्ताः । (पृ० 102)

सुखम्

प्रज्ञोपायौ सुखम्, आनन्दानामाकरत्वाद् आधारत्वात् । ...तयोः समापत्तिसुखं तथैव, सुखमेव साक्षादित्यर्थः । भावः पञ्चबुद्धात्मकं सुखं मुद्रावज्रधराकारं परमसुखमयत्वात् । अभावस्तस्यैव द्रवत्वम्, सोऽपि सुखं निष्प्रपञ्चसुखात्मकत्वात्, तस्मान्मण्डलहेतुरपि सुखात्मक एव । ...प्रज्ञोपायस्वभावयोः चन्द्रसूर्ययोः संयोगबीजोद्भवं देवताचिह्नं वज्रम्, तत्राभिजातं बीजं सत्त्वः, वज्रसहितः सत्त्वो वज्रसत्त्वः, सोऽपि सुखः स्मृतः, महासुखस्वभावो बुद्धैरुक्तः । तदुद्भवं च नैरात्म्यमण्डलम् । ततस्तदपि सुखात्मकमेव । ...महासुखं तदेव सर्वभवैकरसम् । (पृ० 143)

...यथा सुखेन विना न देहादिः, तथा सुखमपि न देहादिना विनेत्यर्थः । (पृ० 144)

सुखं सुरतानन्दः, तदेव रागम् आसक्तिस्थानत्वात्, तदेव रक्तं तत्रासक्तस्य चित्तस्य तस्मादनन्यत्वात्। (पृ० 152)

सुखावती

अमिताभस्य तथागतस्य परिशुद्धं बुद्धक्षेत्रं सुखावती। इह तु काकदधिरक्षान्यायेन सर्वाण्येव परिशुद्धक्षेत्राणि सुखावतीत्युच्यन्ते। (पृ० 145)

अव, रक्षण-गति-प्रीति-तृप्त्यवगमादिषु। सुखमवति नित्यं स्थापयतीति सुखावती। अतिरौणादिको वसतिवत्। (पृ० 178)

सूत्रम्

सूत्रम् इति अनतिगम्भीराणि महायानसूत्राणि एकगाथा-चतुर्गाथाद्वय-धारणी-षण्मुखी-भद्रचर्याचतुर्धर्मक-ललितविस्तर-दशभूमिकादीनि। (पृ० 222)

सेकः

सेकमित्यादि। स्नाप्यत इति प्रक्षाल्यते निर्मलीक्रियत इत्यर्थः। (पृ० 157)

स्थावरी

स्थावरत्वयोगात् स्थावरी। (पृ० 186)

स्वसंवेद्यम्

अत्र वेद्यशब्देन साध्यसुखस्य सम्मुखीभाव उक्तः। असम्मुखीभूतस्य वेद्यत्वायोगात्। 'सं'-शब्देन सम्यगर्थेनोत्कृष्टत्वम्। स्वशब्देनाभ्रान्तत्वम्। स्वेनैव रूपेण वेद्यं न भ्रान्तिसमारोपितेनेति कृत्वा। (पृ० 88)

इह स्वसंवेद्यमेव सुखं खसमं तत्समं च साध्यम्। ...यद् यथार्थमुत्कृष्टमभिमुखीभूतम्, स्वशब्देन संशब्देन वेद्यशब्देन च क्रमाद् अर्थत्रयसूचनात्, एतच्च त्रयं सहजस्यैवास्तीति।

(पृ० 90)

न हि शून्यता नाम काचिदन्या, धर्माद् धर्मतायाः पृथक्छरीराभावात्, अपि तु तस्यैव स्वसंवेद्यस्य सर्वधर्माणां भावतत्त्वस्य या द्वयरहितता विज्ञप्तिमात्रता, सा शून्यता। सा चेत् परं तत्त्वं तदा स्वसंवेद्यमेव परतत्त्वमित्युक्तं भवति। तत्कुतो (शून्यतया सह) विरोधः। (पृ० 96)

स्वाभाविकः कायः

कायत्रयस्य परिज्ञानं समताज्ञानं स्वाभाविकः कायः। स एवानन्तश्चतुर्थो बुद्धानां कायो महासुखचक्रम्। महासुखचक्ररूपेण संवरेण द्वात्रिंशद्वलकमलाकारेण निदर्शयत इत्यर्थः। (पृ० 183)

महासुखम् इति चतुर्थः कायः। ...शिरसि एव सोमस्थानत्वाद् उत्तमाङ्गत्वाच्चेति भावः। (पृ० 184)

(श्री)हेरुकम्

अद्वयं ज्ञानं निराभासम्। सा श्रीः परमं ज्योतिरित्यर्थः। हेतुः स्वभावश्च हेत्वादिः, ताभ्यां शून्यता रहितता साऽत्र हेतुशब्दस्यार्थः, शून्यताऽनिमित्तता चेत्यर्थः। अपगतव्यूहम् इति रहितोऽहम्। रुकारेति रुशब्दार्थ इत्यर्थः। नैरुक्तः शेषलोपो ह्रस्वत्वं च, शून्यता अनिमित्त-मनभिलाष्यता च। तदद्वयं ज्ञानं शून्यताद्यालम्बनत्वादिति मध्याक्षरद्वयस्यार्थः।

यदि शून्यताद्यालम्बनं तज्ज्ञानम् आलम्ब्यालम्बकभावात् कथमद्वयम्? अतश्चतुर्थमक्षरम्, क इति। न क्वचित् स्थितमिति क्वचिदपि न स्थितमिति ककारार्थः, शेषलोपात्। यैव सर्वधर्माणां शून्यता सैवानिमित्तमनभिलाष्यता च। सा च स्वचित्तप्रतिभासिनां सर्वधर्माणां द्वयभ्रान्तिपरिक्षये सति प्रकाशमाना, न तस्माच्चित्ताद् भिद्यत इति स्वसंविन्मात्रं नालम्ब्यालम्बकभाव इति भावः। कथं तर्हि शून्यताद्यालम्बनमुच्यते? तत्संवेदनात्। इयता श्रीहेरुकस्य परमं तत्त्वमुक्तम्। (पृ० 73)

हेवज्रम्

महाकरुणा इति ...नैरुक्तो मलोप इत्वं च करुणाशब्दस्येति भावः। अत्यन्त-दुष्टरौद्राणां विनयनाय परमरौद्रकायवाक्कर्मसन्दर्शनी तु महाकरुणा।

प्रज्ञा च वज्रं भण्यते, ...प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञा, अद्वयज्ञानमित्यर्थः। इह तु शून्यतैव प्रज्ञेत्युच्यते प्रज्ञालम्बनत्वात्। तथा चोक्तं श्रीमद्गुह्यसमाजे—

या निःस्वभावता प्रज्ञा उपायो भावलक्षणः। (गु० त० 18.32)

सा कथं वज्रमुच्यते?

दृढं सारमसौषिर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।

अदाही अविनाशी च शून्यता वज्रमुच्यते ॥

इति वज्रशेखरे वचनात्।

...प्रज्ञा च शून्यता, उपायश्च महाकरुणा प्रज्ञोपायौ, तावात्मा स्वभावोऽस्येति प्रज्ञोपायात्मकम्। एतेन हेतुश्च वज्रश्च हेवज्रमिति विग्रहः सूचितः। सर्वधर्मशून्यतालम्बना महाकरुणा हेवज्र इत्यर्थः। (पृ० 9)

द्वेषो हेवज्रः। (पृ० 45)

हेवज्रम् इति। हेकारेण करुणा महासुखमित्यर्थः, वज्रं प्रज्ञा शून्यतादर्शनमित्यर्थः।

(पृ० 190)

हेवज्रस्य षोडशभुजस्य विशुद्धिः (षोडश शून्यताः)

षोडशभुजस्य हेवज्रस्य भुजादिविशुद्धिमाह—षोडशानां भुजानां विशुद्धिस्तत्त्वं षोडश शून्यताः, तद्यथा—अध्यात्मशून्यता, बहिर्धाशून्यता, अध्यात्मबहिर्धाशून्यता, शून्यता-शून्यता, महाशून्यता, परमार्थशून्यता, संस्कृतशून्यता, असंस्कृतशून्यता, अत्यन्तशून्यता, अनवराग्रशून्यता, अनवकारशून्यता, प्रकृतिशून्यता, स्वलक्षणशून्यता, सर्वधर्मशून्यता, अभाव-शून्यता, अभावस्वभावशून्यता, ता एव भुजीकृता इत्यर्थः। (पृ० 109)

होमः

हेवज्राधिमोक्ष एव दृढः सुयोगः, बाह्यहोमादिवर्जितः। कुतः? यतोऽस्य हेवज्रात्मना भक्षणमेव होमः। (पृ० 66)

अग्नौ घृतादीनां हवनं होमः। ...निष्प्रपञ्चज्ञानानलरूपत्वात् क्लेशमलविकल्प-दहनाच्च तदेव होमः। (पृ० 127)

महायान बौद्ध देव परिवार : स्वरूप और प्रयोजन

—प्रो० कृष्णनाथ—

[बौद्ध ईश्वर को नहीं 'मानते, निषेध करते हैं। थेरवादी सत् को भी क्षणिक मानते हैं, किन्तु महायानी क्षणिक की भी वास्तविक सत्ता नहीं स्वीकारते, फिर इनके मण्डलों, मूर्तियों, भित्तिचित्रों, थड्काओं आदि में अन्त देवी देवताओं के स्वरूपों का क्या प्रयोजन है? ये कहाँ से आ गये? इस प्रश्न के उत्तर में लेखक का मानना है कि ये सब केवल साधना के लिये कल्पित हैं, साधना किसी अवलम्ब के बिना नहीं हो सकती। अतः साधना के लिए इनका उत्पाद किया जाता है और साधना के बाद इन्हें निष्पन्न कर दिया जाता है। ये कोई नित्य, कूटस्थ, सत्स्वभाव नहीं हैं। इस माने में बौद्ध साधना अपने शून्यता, निःस्वभावता दर्शन से भिन्न नहीं है।]

महायान बौद्धों का देव परिवार भरा-पूरा है। विविध और विकसित है। गोन्पा में प्रवेश करने पर मूर्तियों, भित्तिचित्रों, थड्काओं का जैसा जंगल दिखायी पड़ता है। इसमें अनजान आदमी या औरत जैसे खो जाते हैं। कोई सिलसिला नहीं बन पाता। कोई अर्थ नहीं समझ में आता। कोई प्रयोजन समझ में नहीं आता।

बुद्ध को तो पहचानते हैं। बोधिसत्त्व के नाम से परिचित हैं। लेकिन ये कौन हैं? अवलोकितेश्वर क्या है? मंजुश्री? वज्रपाणि? यह इतने क्रोधन क्यों हैं? यह देवी कौन है? तारा कितने प्रकार की हैं?

पहचान के लिए नाम रूप की जानकारी जरूरी है। फिर इतने ढेर सारे नाम, रूप, अनाम, अरूप आखिर क्यों हैं? इनका प्रयोजन क्या है? क्रम क्या है? फल क्या है?

बौद्ध ईश्वर, आत्मा नहीं मानते। निषेध करते हैं। थेरवादी मानते हैं कि जो सत् है वह क्षणिक है। महायानी तो क्षण की भी वास्तविक सत्ता नहीं स्वीकारते। शून्यता, निःस्वभावता में विहरते हैं। फिर इनमें इतना बड़ा देव परिवार कैसे बना? इसका औचित्य क्या है? संगति कैसे है?

इस देव परिवार का तंत्र से सम्बन्ध है। इसी सिलसिले से कलाओं का विकास हुआ है। यह सब शून्यता पर आधारित है। ठीक-ठीक यह सब कैसे हुआ ?

तन्त्र विशेषकर साधना है। दर्शन तो उसकी व्याख्या है। यह बिना गुरु के प्राप्त नहीं हो सकता। वैसे शास्त्र में कहा है कि यह गुरुतः शास्त्रतः स्वतः प्राप्त हो सकता है।

इसकी परम्परागत समझदारी यह है कि यह तीनों से गुरुतः, शास्त्रतः और स्वतः प्राप्त होता है, न कि सिर्फ गुरु से या सिर्फ शास्त्र से या बिना गुरु और शास्त्र के अपने आप यह प्राप्त होता है। गुरु उपाय है और उपाय के बिना प्रज्ञा की प्राप्ति कठिन है। उपाय के बिना प्रज्ञा बंधन है। प्रज्ञा के बिना उपाय बंधन है। प्रज्ञा उपाय के युगनद्ध होने का फल मोक्ष है।

प्रज्ञोपाय के निश्चय के लिए सूत्र और तन्त्र के युगल की साधना जरूरी है। इसके लिए मूल स्रोतों का अध्ययन और अभ्यास आवश्यक है। गुह्यसमाजतन्त्र बौद्ध तन्त्र का एक आधारभूत ग्रन्थ है। इसका बौद्ध तान्त्रिक साहित्य में प्रामाण्य है। इस पर अनेक टीकाएँ हुई हैं। साधना विधि गुह्य है। यह साम्प्रदायिक (आम्नाय) विद्या है। इसका विधिवत् अभ्यास करने से ही फल प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं।

श्रीगुह्यसमाजतन्त्र का सर्वतथागतसमाधिमण्डलाधिष्ठान नामक प्रथम पटल इस प्रकार प्रारम्भ होता है : “एवं मया श्रुतम्। एकस्मिन् समये भगवान् सर्वतथागतकायवाक्-चित्तहृदयवज्रयोषिद्गेषु विजहार। अनभिलाष्यानभिलाष्यैः ...।”

वहाँ भिन्न भिन्न प्रकार के बोधिसत्त्व भी थे। समयवज्र, कायवज्र, वाग्वज्र, चित्तवज्र, समाधिवज्र आदि नामक बोधिसत्त्व थे। प्रश्न यह था कि प्रव्रज्या सम्बन्धी विनय इतने कठोर थे कि श्रमणों को कठिनाई महसूस होती थी। फिर यह भी तय नहीं था कि इन नियमों के पालन से इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त हो सकता है। गंगा नदी में जो अनेक बालू के कण हैं उतने कल्पों में भी बोधि प्राप्त हो जाए यह जरूरी नहीं। इसलिए उनकी चिन्ता थी कि भगवान् तथागत उन्हें गुह्यसमाजतन्त्र की देशना दें। क्योंकि गुह्यसमाजतन्त्र की प्रतिज्ञा है कि दुष्कर नियमों के सेवन से भी जो सिद्धि नहीं मिलती वह सर्वकामोपभोग सेवन करते हुए आशु सिद्ध होती है। इसे बतलाने के लिए प्रार्थना करने पर भगवान् बोधिचित्त वज्र ने कहा कि यह इतना कठिन है कि बोधिसत्त्वों की कौन कहे, तथागतों को भी इसके बारे में संशय रहता है। परिषद् के फिर आग्रह करने पर अन्तर्धान आदि सामान्य सिद्धियों और बुद्धत्वसाधन जैसी उत्तम सिद्धियों की प्राप्ति के लिए गुह्यसमाजतन्त्र का प्रकाश करना स्वीकार किया। तब भगवान् ने विभिन्न समाधियाँ और मन्त्र समापन्न कर अपने में से ही पाँच बुद्धों का निर्माण किया। ये पाँच बुद्ध हैं :

1. अक्षोभ्य, 2. वैरोचन, 3. रत्नकेतु(सम्भव), 4. अमितवज्र(ताभ) और
5. अमोघवज्र(सिद्धि)।

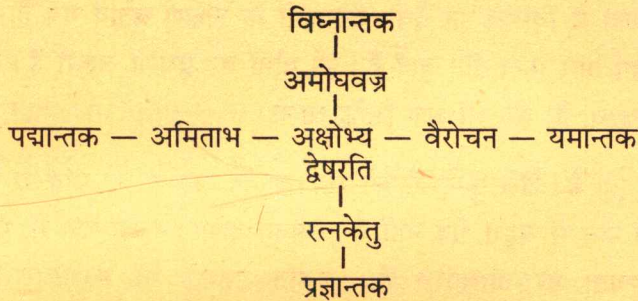
इनमें से वैरोचन को बीच में और चार को चार दिशाओं में स्थापित किया। फिर भगवान् ने समाधि लगाकर अपने ही बिम्ब से पाँच स्त्री-बिम्ब सिरजे। (स्वबिम्बानि स्त्रीबिम्बान्यभिनिर्माय) ये स्त्री-बिम्ब हैं :

1. द्वेषरति, 2. मोहरति, 3. ईर्ष्यारति, 4. रागरति और 5. वज्ररति।

प्रत्येक तथागत बुद्ध को एक-एक रति दी।

फिर समाधि लगाकर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण द्वार के लिए चार महाक्रोध यमान्तक, पद्मान्तक, विघ्नान्तक और प्रज्ञान्तक निःसृत किये। इन्हें चार द्वारों का रक्षक बनाया। इस तरह तथागत बुद्धों का मण्डल पूरा हुआ। यह पाँच तथागत बुद्ध पाँच स्कन्धों के स्वरूप माने गये हैं। पाँच स्कन्ध हैं : रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान।

इन सबका गुह्यसमाजतन्त्र में स्थान इस प्रकार दिखाया गया है :



अब इन पाँच तथागत बुद्धों की मुद्राएँ हैं। रतियाँ हैं। मण्डल हैं। कुल हैं। सम्भवतः इनसे बोधिसत्त्व निःसृत होते हैं। ये भी अनेक हैं। नागार्जुन रचित धर्मसंग्रह के अनुसार बोधिसत्त्व आठ हैं— मैत्रेय, गगनगञ्ज, समन्तभद्र, वज्रपाणि, मञ्जुश्री, सर्वनिवरण-विष्कम्भी, क्षितिगर्भ और खगर्भ। इनमें तीन प्रायः लिखे जाते हैं— अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री और वज्रपाणि। अवलोकितेश्वर समस्त आगत-अनागत बौद्धों के करुणा के देवता हैं, मञ्जुश्री ज्ञान के और वज्रपाणि शक्ति के। फिर तारा हैं। इनके भी अनेक रूप हैं।

धर्मसंग्रह के ही अनुसार चार देवियाँ हैं— रोचना (लोचना), मामकी, पाण्डु- (ड)रा और तारा। तारा की बड़ी महिमा है। तथागत भी एक नहीं, सात हैं— विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, कनकमुनि, काश्यप और शाक्यमुनि। लोकपाल चार, आठ,

दस या चौदह हैं। दश क्रोध हैं। छः योगिनियाँ हैं। अनुत्तरपूजा सप्तविधा है— वन्दना, पूजना, पापदेशना, अनुमोदना, अध्वेषणा, बोधिचित्तोत्पाद, परिणामना।

वैदिक देव परिवार को भी नीचा स्थान देकर सम्मिलित कर लिया गया है— जैसे इन्द्र, कुबेर, यम, वरुण, ब्रह्मा, विष्णु वगैरह द्वारपाल हैं।

फिर भय, रोग, शोक वगैरह के शमन के लिए कुछ स्थानीय चिह्न, चेहरे, देव वगैरह होंगे। उन्हें भी इसमें मिला लिया गया होगा। केन्द्र में अपने को रखकर इनका सामरस्य बना होगा। लेकिन यह सब इतना घुल-मिल गया है कि अब भेद नहीं है।

इसके लिए साधना है। यह साधना साधनमाला नामक ग्रन्थ में संकलित है। यह सिर्फ कविता नहीं। महान् साधकों के साक्षात्कार हैं। अनुभूति हैं। अन्य साधकों के लिए सहायक हैं।

साधनमाला में विभिन्न इष्ट देवी, देवताओं के लक्षण बताये गये हैं। मन्त्र भी दिये गये हैं। भूमि, मार्ग और फल तीन बातें हैं। इन तीनों का प्रबन्ध जरूरी है। तंत्र प्रधान रूप से मार्ग-फल व्यवस्था है, वह भी क्षण सिद्धि वाली।

साधना गुह्य है। जैसे कुलस्त्री की रति। शायद साधना की प्रक्रिया में बौद्ध, शैव-शाक्त, वैष्णव या जैन में बहुत भेद नहीं है। इसकी दार्शनिक व्याख्या में भेद है। जो हो, बौद्धसाधना, शून्यता पर आधारित है। अर्थात् इनकी भी स्वभावसत्ता, वास्तविक पारमार्थिक सत्ता नहीं है। प्रज्ञप्ति-मात्र है। व्यवहार के लिए है। जैसे साधना के लिए अवलोकितेश्वर का उत्पाद करते हैं और फिर साधना करके निष्पन्न कर देते हैं। वह कोई नित्य, कूटस्थ, सस्वभाव नहीं है। निःस्वभाव ही है। इस माने में बौद्ध साधना अपने दर्शन से असंगत नहीं है।

इसी क्रम में, साधना की जरूरतों के लिए पाँच तथागत बुद्ध, उनकी रतियाँ, द्वारपाल, बोधिसत्त्व, तारा वगैरह उत्पन्न और निष्पन्न होते हैं। साधना के लिए इनके रंग, रूप, रूपाकार बताये जाते हैं। जैसे अवलोकितेश्वर का रंग सफेद है, मञ्जुश्री का पीला, वज्रपाणि का नीला, फिर दो, चार, छह, हजार हाथों वाले अवलोकितेश्वर हैं। इक्कीस प्रकार की तारा हैं, वगैरह। इस तरह विस्तार होता जाता है।

अब इनकी मूर्तियाँ, भित्तिचित्र, थड्का (पटचित्र) बनने लगते हैं। इसके लिए इनका प्रतिमान निश्चित होता है। माप के मुताबिक बनने पर मूर्ति या चित्र पूजा के लायक है, अन्यथा वह कला हो सकती है लेकिन पूजा की वस्तु नहीं। चित्रों के प्रतिमान इतनी विस्तार से बताये जाते हैं कि अभ्यास से इसे लिखना सीख सकते हैं। तिब्बत में चित्रकला सिखाने में शुरू में बुद्ध शाक्यमुनि, अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्व, वज्रपाणि आदि क्रोधनदेव, तारा आदि देवियाँ, अर्हत् आदि मनुष्यों का लिखना सिखाते हैं। इससे पूजा के लिए चित्र बनाने भर को वे सीख जाते हैं। यह मूर्तियाँ, भित्तिचित्र, थड्का भी मूल रूप से साधना में सहायता के लिए हैं। इसलिए कहीं-कहीं गोन्पाओं में इन्हें भी गुह्य बताते हैं और सबको, सब समय इनका दर्शन करने की अनुमति नहीं देते।

इसके साथ अब इनके पुराण भी बनने लगे। जैसे अवलोकितेश्वर पोतलक पर्वत पर निवास करते हैं। खास प्रकार की बोधिसत्त्व की चर्या करते हैं। समन्तमुख हैं—चहुँ ओर देखते हैं। हजार हाथों से प्राणिमात्र के प्रति करुणा करते हैं और इन हजार हाथों में भी हजार आँखें होती हैं। सिर्फ आँखों से नहीं, हाथों से भी देखते हैं, इत्यादि।

मूर्ति, चित्र और पुराण बनने पर जो साधक नहीं हैं वे भी इनका दरस-परस कर सकते हैं। पाठ-स्तुति, भक्ति कर सकते हैं। भक्ति सुगम है। सबके लिए है। साधना तो गुह्य है। कठिन है।

लोक में कला और पुराण तथा पूजा-पाठ के द्वारा ये स्वरूप पहचाने जाते हैं। किन्तु धीरे-धीरे साधना से दूर होते जाने पर इनके मूल अर्थ खोते जाते हैं। मूल प्रयोजन भूलता जाता है। सिर्फ कर्मकाण्ड रह जाता है। दीया बारना, पानी रखना, बदलना, धूप दिखाना, मक्खन, सत्तू चढ़ाना रह जाता है। मूर्ति वगैरह बन जाने से शून्यता, निःस्वभावता की भावना भी कुछ हल्की पड़ जाती है। कम से कम सामान्य जन के लिए तो वह करीब-करीब वैसी ही अगम्य होती है जैसे कि महेश्वर, या चित्ति शक्ति या ब्रह्म की भावना।

जब साधारण जन इन स्वरूपों का अर्थ भूलने लगते हैं तो भी पूजा-पाठ, दान-दक्षिणा करते रहते हैं। पुजारी लामा भी कर्मकाण्ड दुहराते रहते हैं। धर्मों में इस दुहरावन की बड़ी महिमा है। इसे अभ्यास की शक्ति है। लेकिन जब यह निरर्थक अभ्यास रह जाता है तो उबाऊ होने लगता है। भय या लोभ या मात्र आदत से चलता जाता है। सिर्फ उपाय

रह जाता है। प्रज्ञा का लोप हो जाता है। पहले सामान्य लोगों से, फिर विशेषज्ञों से भी। क्योंकि जब कोई पूछे तब तो वे बताएं कि कौन क्या है? कैसे है? कोई पूछता नहीं। इसलिए बताता नहीं। इसलिए जानता नहीं।

इन स्वरूपों के अर्थ के खो जाने का संकट मालूम पड़ता है। वैसे पूजा-पाठ अभ्यास चल रहा है और शायद विघ्न-बाधाओं के बावजूद चलते रहने वाला है। चाहे 'टूरिस्ट' के आकर्षण के लिए ही सही। दर्शन के लिए भी।

जो हो, शायद महायान बौद्ध परिवार का यह स्वरूप और माहात्म्य तथा प्रयोजन है। जो अब अज्ञानवश भूलता जा रहा है। यह भी सनातन जैसा होता जा रहा है।

गुह्यसमाज : एक विश्लेषण

—वङ्छुग् दोर्जे नेगी—

[प्रस्तुत निबन्ध में बौद्धतन्त्रों के प्रमुख भेद पितृतन्त्र से सम्बद्ध गुह्यसमाजतन्त्र का विश्लेषण किया गया है, जिसमें बौद्ध तन्त्रों के स्वरूप, तत्त्वदर्शन, साधना का स्वरूप, वर्गीकरण इत्यादि पर विचार करते हुए पितृतन्त्र का अभ्युदय, आम्नाय परम्परा, वज्रदेह, नाडीचक्र, वायुतिलक, मण्डल, मुद्रा एवं क्रमद्वय का विस्तृत विवेचन किया गया है।]

तन्त्र देशना

बुद्ध द्वारा बोधि की प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण पर्यन्त उपदिष्ट वचनों में तन्त्र की देशना भी एक है, जो अध्यात्म की चरमोत्कर्ष अवस्था है। यह अत्यन्त गम्भीर और रहस्यपूर्ण है। अतः इसकी देशना, परम्परा तथा साधनाविधि आदि भी रहस्यात्मक ही हो, इसमें सन्देह नहीं।

तन्त्र का स्वरूप

गुह्यसमाज (18.33-34) में तन्त्र को प्रबन्ध कहा है और अभिधेय की दृष्टि से उसके तीन भेद किये हैं—हेतु, उपाय और फलतन्त्र। अभिधान की दृष्टि से उक्त त्रिविध तन्त्रों के विषयों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र तन्त्रशास्त्र कहलाता है।

हेतु (आश्रय) तन्त्र

हेतु तन्त्र को अभिधेय की दृष्टि से देखें, तो सत्त्वों के चित्त का स्वभाव बुद्धस्वरूप होने के बावजूद आगन्तुक मलों से आवृत है। यह बीजसदृश है, जो प्रत्ययों के संसर्ग में आकर फल की प्राप्ति कराने में समर्थ है। कृत्रिम मल का नाश होने पर सत्त्वों का चित्त निर्मल होकर बुद्ध कहलाता है, अर्थात् सत्त्वों में आद्यन्तरहित सूक्ष्म प्राणचित्त की अविच्छिन्न संतति एवं साधक की मार्ग आदि प्रक्रियाओं की प्रवृत्ति या अवतारणा का आधार या आश्रय ही हेतु तन्त्र कहलाता है।

उपाय तन्त्र

उपाय का अभिप्राय है हेतु को फल का रूप प्रदान करने वाली चित्तवृत्ति, अर्थात् फल को प्रकट करने में जो सहायक एवं प्रत्ययसदृश है, जो चित्त की निर्मलता में

उपायभूत है, यह उपाय भी तन्त्र कहलायेगा। उपदेश और अभिषेक की अविच्छिन्न परम्परा और साधना में निरत साधक के अनुभव की परम्परा उपाय के रूप में निरन्तर विस्तार पाती रहती है।

फल तन्त्र

फल तन्त्र का अभिप्राय है हेतु में असंहार्य रूप से स्थित फल का अभिमुखी-भाव। चित्त की हेतु अवस्था में छिपी हुई निर्मल वृत्तियों को प्रकट करना फल तन्त्र है। जैसे वृक्ष के फूलों में फल असंहार्य रूप में स्थित है और कालक्रम से वह पक जाता है, उसी प्रकार उपाय तन्त्र के सहारे चित्त बोधि के रूप में परिष्कृत होकर फल तन्त्र कहलाता है। विभिन्न बौद्ध मतों में इसका गोत्र, सुगतगर्भ, बोधिचित्त और महामुद्रा आदि अनेक नामों से व्याख्यान हुआ है।

तत्त्वदर्शन

बौद्ध वज्रयान दर्शन का अन्तिम उद्देश्य अद्वय ज्ञान की प्राप्ति एवं युगानद्धता को प्राप्त करना है। यही बुद्धवचनों का सार है। जैसा कि चर्यागीतिकोश की व्याख्या में कहा गया है—

चतुरशीतिसाहस्रे धर्मस्कन्धे महामुने ।

तत्त्वं तु ये न जानन्ति ते सर्वे निष्फलाय वै ॥ (पृ० 22)

अर्थात् चौरासी हजार धर्मस्कन्धों की देशना तत्त्वज्ञान के लिये ही हुई। तत्त्व क्या है? कुदालपाद कहते हैं—

यस्य स्वभावो नोत्पत्तिर्विनाशो नैव दृश्यते ।

तज्ज्ञानमद्वयं नाम सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥ (च० को०, पृ० 77)

वज्रयान में माध्यमिकों की निःस्वभावता और विज्ञानवादियों की चित्तमात्रता ही चतुष्कोटिविनिर्मुक्त निष्प्रपञ्च प्रज्ञोपायात्मक अद्वय तत्त्व है। इस स्थिति को वज्रयान के ग्रन्थों में आभासशून्यता, विद्याशून्यता, महासुखशून्यता आदि शब्दों से कहा गया है। प्रतिपत्ति-सारशतक में आर्यदेव ने कहा है—

प्रज्ञाकरुणयोर्भेदः प्रदीपालोकयोरिव ।

प्रज्ञाकरुणयोरैक्यं प्रदीपालोकयोरिव ॥

अर्थात् प्रदीप और उसके आलोक की भाँति चित्त की प्रभास्वरता (आभास) और उसकी निष्प्रपञ्चता भिन्न भी है और अभिन्न भी। यही अद्वय तत्त्व है।

महामायातन्त्र¹ की टीका गुणवती में भी रत्नाकरशान्तिपाद ने “चित्तमचित्तम्” कहकर अद्वय तत्त्व को त्रिकालिक, अजात और अनिरुद्ध माना है। यही वज्रयान का दार्शनिक पक्ष प्रतीत होता है।

वज्रयान में साधना का स्वरूप

(क) वज्रयान के पर्याय : वज्रयान को मन्त्रयान, फलयान और उपाययान भी कहा जाता है। हेतु और फल, अर्थात् प्रज्ञा और उपाय की अभिन्नता ही वज्र है। जैसा कि अद्वयवज्र ने कहा है—

वज्रेण शून्यता प्रोक्ता सत्त्वेन ज्ञानमात्रता ।

तादात्म्यमनयोः सिद्धं वज्रसत्त्वस्वभावता ॥ (अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० 24)

अर्थात् वज्र या वज्रसत्त्व की प्राप्ति कराने वाला मार्ग एवं यान ही वज्रयान कहलाता है। बुस्तोन ने भी विमलप्रभा का उद्धरण देते हुए हेतु और फल की अभिन्नता को प्रतिपादित करने वाले शास्त्र को वज्रयान कहा है²। गुह्यसमाज में राग, द्वेष और मोह का परिशोधन करने वाले शास्त्र को वज्रयान कहा है। गुह्यसमाजोत्तर में भी कहा है—

कायवाक्चित्तवज्रेण भेद्याभेद्यस्वभावतः । (18.38)

अर्थात् काय, वाक् और चित्त की अभिन्नता को प्रतिपादित करने से यह वज्रयान कहलाता है।

यह गुह्य-मन्त्रयान भी कहलाता है, अयोग्य पात्रों के लिये गुह्य रखा जाता है तथा योग्य साधक यहाँ उपदिष्ट मन्त्र और मुद्राओं के द्वारा सिद्धि को प्राप्त करते हैं। विषयों के नाना प्रकार के गुण-दोषों में आसक्त होकर मन भवचक्र का कारण बनता है। उस मन की मन्त्रनय में उपदिष्ट मन्त्रों के द्वारा रक्षा की जाती है³। अथवा भाजनलोक विमान में, सत्त्व इष्टदेव में और सभी शब्द इष्टदेव के मन्त्र हैं। सभी कल्पनाएँ या तर्क-वितर्क इष्टदेव

1. महामायातन्त्र टीका गुणवती, पृ० 14

2. बुस्तोन संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-14, पृ० 899

3. गुह्यसमाजतन्त्र 18.69-71

की चित्तवृत्तियाँ हैं। ऐसे लोकोत्तर मार्ग का प्रतिपादन कर उस ओर ले जाने वाला यान ही वज्रयान है।

यह फलयान भी कहलाता है, क्योंकि यह काय, उपभोग, देश, कर्म आदि फलावस्थाओं में जैसा उपलब्ध होता है, मार्ग अवस्था में भी तत्सदृश ही इसकी भावना करने की व्यवस्था है¹। जैसे—त्रिध्यान (आदियोगध्यान, मण्डलराजाग्री तथा कर्मराजाग्री) की भावना विधि।

यह उपाययान भी कहलाता है, क्योंकि इसमें पारमितानय की अपेक्षा अन्य अनेक उपाय और सुगम मार्गों का प्रतिपादन किया गया है। इससे त्वरित गति से वज्रधर पद की प्राप्ति होती है। त्रिनयप्रदीप में आचार्य त्रिपिटककमल कहते हैं—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात् ।

तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ॥

उपर्युक्त सेवनीय साधनापरक नाम-पर्यायों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य यानों से भिन्न वज्रयान में धर्मकाय की प्राप्ति के उपादानकारक शून्यता की भावना ही नहीं, अपितु रूपकाय के उपादानकारक सूक्ष्म प्राणचित्त की भी व्यवस्था है, जो देवभावना का आधार बिन्दु है। इसी के आधार पर यह वज्रयान, फलयान, उपाययान आदि कहलाता है।

(ख) संवर तथा समय : समय और संवर अभिषेक का प्राण है। स्वरूपगत समय सेवनीय है और संवर पालनीय। पालनीय चौदह मूलापत्तियाँ और आठ स्थूलापत्तियाँ संवरधर्म हैं तथा पञ्चतथागतसमय, समाधिसमय, चर्यासमय, भक्ष्यसमय और अपरित्याज्य द्रव्यसमय ये समयधर्म हैं। वज्रयान में संवर और समय का अभिप्राय अपने-अपने तन्त्रों में उपदिष्ट विशिष्ट नियमों और द्रव्यों के पालन तथा सेवन से है। इसका प्रयोजन अभिषेक की प्राप्ति के लिये शिष्य को परिपक्व बनाना है। इस तरह संवर की पूर्णता भी तभी मानी जायेगी, जब अभिषेकप्राप्ति की प्रक्रिया पूरी हो जाय²। तन्त्र के भेद से संवर में भी भेद हो जाता है। दीपंकर श्रीज्ञान ने समयसंग्रह में क्रियातन्त्र की मूलापत्ति की संख्या तीस और शेष तीनों तन्त्रों में चौदह-चौदह बतायी है। संवर के द्वारा जहाँ बाह्याचरण में विशिष्ट नियमों का पालन करना पड़ता है, वहीं आन्तरिक तिलक (बिन्दु) की भी रक्षा करनी

1. अनुत्तरयोगावतार, तो० सं० 3713, प० 106

2. ज्ञेयकोश (शेस्-ब्या-कुन्-ख्यब्-म्तोद्) जिल्द-2, पृ० 139, मी-रिगस्-दपे-स्कृन-खङ्ग, पीकिंग, 1982

पड़ती है। तिब्बत के पण्डित धर्मश्री ने भी चारों तन्त्रों के संवर-स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि दर्शन, हास, पाण्यासि आदि किसी एक सुख का मार्गीकरण कर तत्सदृश राग के परिशोधनहेतु विशिष्ट प्रज्ञोपाय ज्ञान की भावना कर त्रिद्वार (काय, वाक्, चित्त) की वासना के निमित्त विकल्प को बाधित करने वाला सहेतुक चित्त, अर्थात् क्रिया, चर्या आदि तन्त्रों के अभिषेक से प्राप्त होने वाला संवर या शील ही क्रिया आदि तन्त्रों के संवर का स्वरूप है¹।

(ग) **अभिषेक** : अभिषेक के अभाव में न तन्त्र में प्रवेश कर सकते हैं और न ही उसका श्रवण, चिन्तन और मनन। बिना अभिषेक प्राप्त किये साधना करें, तो न किसी प्रकार की लौकिक सिद्धि प्राप्त हो सकती है और न ही लोकोत्तर सिद्धि। इसका उल्लंघन करने से गुरु और शिष्य का नरकपतन होता है। अभिषेक के बिना सिद्धि की प्राप्ति वैसे ही है, जैसे बालू से तेल निकालना²। बुद्धकपालतन्त्र के 6-7 पटलों (देवोत्पत्ति और अभिषेक) में कहा है कि वीणा के सभी तन्तुओं के सम्पन्न हो जाने पर भी यदि उसको बजाने वाला विज्ञ न हो तो वह नहीं बजेगी। उसी प्रकार अभिषेक के बिना जप, ध्यान आदि करें तो अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होगी³।

तन्त्र का अधिकारी वही होगा, जो तन्त्र के नियमों का अनुपालन करने की योग्यता रखता हो। सामान्यतः अभिषेक का तात्पर्य है विधिवत् देना, सिञ्चित करना या विशिष्ट अधिकार की प्राप्ति कराना। हेवज्रतन्त्र में कहा है—

सिञ्च्यते स्नाप्यतेऽनेन सेकस्तेनाभिधीयते। (2.3.12)

अर्थात् जिससे सींचा जाता है, शुद्ध किया जाता है, उसे सेक कहते हैं। इसी प्रकार अद्वयवज्र ने भी कहा है कि कायवाक्चित्त आदि का आगन्तुक मलों से प्रक्षालन कर सिद्धि का भागी बनाना ही अभिषेक है। इस प्रकार अभिषेक का प्रयोजन है—अपने अखण्ड स्वरूप का बोध कर स्वामित्वप्राप्ति का अधिकारी होना।

क्रिया, चर्या आदि तन्त्रों की उत्कृष्टता के आधार पर अभिषेक के चार भेद हैं—गुह्यसमाजोत्तरतन्त्र में मूलतः अभिषेक के चार प्रकार इस तरह से वर्णित हैं—

1. त्रिसंवरव्याख्या कल्पमञ्जरी, पृ० 384, जिङ्मा विहार, देहरादून।
2. महामुद्रातिलक, तो० सं० 420, प० 66 ख।
3. बुद्धकपाल, तो० सं० 424, प० 157

कलशाभिषेकं प्रथमं द्वितीयं गुह्याभिषेकतः ।

प्रज्ञाज्ञानं तृतीयं तु चतुर्थं तत्पुनस्तथा ॥ (पृ० 111-112)

अर्थात् कलशाभिषेक, गुह्याभिषेक, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक तथा चतुर्थाभिषेक अथवा शब्दाभिषेक। कलशाभिषेक चारों तन्त्रों में उपलब्ध होता है, किन्तु शेष तीन अभिषेक मात्र अनुत्तरतन्त्र से सम्बद्ध हैं। कलशाभिषेक के भेदों के सम्बन्ध में तन्त्रों में साम्य नहीं है। क्रियातन्त्र में कलशाभिषेक के भेदों में मात्र उदक और पट्ट अभिषेक ही दिया जाता है। चर्यातन्त्र में उक्त दो अभिषेकों के अतिरिक्त घण्टाभिषेक, वज्राभिषेक और नामाभिषेक तथा योगतन्त्र में इन पाँच शिष्य अभिषेकों के अतिरिक्त वज्राचार्याभिषेक (अवैवर्तिक) का भी विधान है। गुह्याभिषेक मण्डल में गुह्य रूप से प्रवेश कर मण्डल के दस तत्त्वों का और कर्म के क्रम का निदर्शन ही यहाँ गुह्याभिषेक है। अनुज्ञाभिषेक, व्याकरणाभिषेक, उच्छ्वास-अभिषेक और प्रशंसा-अभिषेक आदि भेद सहित कुल ग्यारह अभिषेकों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है¹। इन सभी अभिषेकों के साथ कलश का व्यापार होने से ये सब कलशाभिषेक के नाम से जाने जाते हैं।

अनुत्तरतन्त्र कलशाभिषेक के भेदों के सम्बन्ध में एकमत नहीं है। आचार्य नागबोधि ने मण्डलोपायिकाविंशति में कलशाभिषेक के पुष्पमालाभिषेक, उदक, पट्ट (बुद्धाभिषेक), वज्र, घण्टा, आदर्श, नाम, आचार्य और अनुज्ञा अभिषेक, ये नौ भेद किये हैं²। भोटाचार्य डोगलो ने पञ्चविद्याभिषेक, त्रिसमयाभिषेक, पञ्चकुलानुज्ञाभिषेक, व्याकरणाभिषेक, प्रशंसाभिषेक, उच्छ्वासाभिषेक, वज्राचार्याभिषेक और वज्रव्रताभिषेक आदि नामों से कलशाभिषेक के 18 भेद किये हैं³। प्रायः अनुत्तरतन्त्र के कलशाभिषेक में पाँच शिष्याभिषेक और 6 आचार्याभिषेक सहित 11 अभिषेक ही प्रचलित हैं। शिष्याभिषेक के अन्तर्गत उदक, मुकुट, वज्र, घण्टा और नामाभिषेक तथा आचार्याभिषेक में प्रशंसा, व्याकरण, उच्छ्वास, वज्रव्रत, चर्याव्रत और अनुज्ञा नामक अभिषेक हैं। इन कलशाभिषेकों के निम्नलिखित प्रयोजन हैं—

1. अविद्यारूपी अन्धकार का प्रक्षालन करने की क्षमता प्राप्त करने हेतु उदकाभिषेक।
2. उष्णीष आदि 32 लक्षणों के प्रादुर्भाव हेतु मुकुटाभिषेक।
3. अद्वयज्ञान का साक्षात्कार करने की क्षमता प्राप्त करने हेतु वज्राभिषेक।

1. ज्ञेयकोश, जिल्द-2, पृ० 603
 2. तो० सं० 1810, पृ० 131-145
 3. ज्ञेयकोश, जिल्द-2, पृ० 673

4. बुद्ध के वाक् लक्षणों (60 घोषात्मक गुणों) की प्राप्ति की क्षमता प्राप्त करने हेतु घण्टाभिषेक।
5. जिस कुल (अक्षोभ्य आदि) से बुद्धत्व की प्राप्ति करनी हो, उस कुल के नाम से सम्बोधित करने हेतु संस्कार रखने के लिये नामाभिषेक।
6. बोधिमार्ग से पतित न होने के लिए प्रशंसाभिषेक।
7. बोधिप्राप्ति में वीर्य उत्पन्न करने हेतु उच्छ्वासाभिषेक।
8. धर्मराज की प्राप्ति हेतु वज्राचार्याभिषेक इत्यादि।

ये सभी अभिषेक उत्पत्तिक्रम से सम्बद्ध माने जाते हैं। गुह्याभिषेक आदि अन्य तीन अनुत्तराभिषेक निष्पन्नक्रम में परिपक्वता लाने हेतु दिये जाते हैं। गुह्याभिषेक के द्वारा गुरु (पितृ और मातृ का अद्वयरूप) द्वारा युगनद्ध समापत्ति से उद्भूत बोधिचित्त (अमृत) का पान कराने से शिष्य को विशेष महासुख की अनुभूति होती है, जिससे मन्त्रनय चर्या के प्रति सन्देह के साथ मिथ्यादृष्टि का भी नाश होता है, श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा सभी धर्मों की मायाकायस्वरूपता का बोध करने की क्षमता भी प्राप्त होती है। इसे द्रव्य का अभिषेक भी कह सकते हैं। प्रज्ञाज्ञानाभिषेक में शिष्य भी मुद्रा के साथ समापत्ति अवस्था में स्थित होता है और गुरु शिष्य को चतुर्थाभिषेक की अवस्था में जिन चार आनन्दों का बोध कराता है, उन आनन्दों की भावना का अधिकारी बनाता है। यदि शिष्य भिक्षु हो तो चण्डाली की भावना से या ज्ञानमुद्रा के साथ समाहित होकर बोधिचित्त (बिन्दु) को स्रवित करता है। आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान ने बोधिपथप्रदीप में भिक्षु के लिये दर्शन मार्ग (तत्त्वज्ञान के बोध से पूर्व की प्राप्ति से पूर्व) गुह्यादि तीन अनुत्तर अभिषेकों का निषेध किया है¹। यथा—

गुह्यप्रज्ञाभिषेकस्तु न ग्राह्यो ब्रह्मचारिणा।

चतुर्थाभिषेक में प्रज्ञाज्ञानाभिषेक की अवस्था में उत्पन्न आनन्दों के सप्त अवयवयुक्त युगनद्ध संभोग सम्पन्न अवयव एवं अद्वय, महासुख, निःस्वभाव, महाकरुणा, निरन्तरता और निरुद्ध अवयव (अद्वय) काय का गुरु शब्द के द्वारा शिष्य को इंगित करता है। तत्पश्चात् शिष्य युगनद्धकाय की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है²।

1. बोधिपथप्रदीप, पृ० 65, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, 1984

2. ज्ञेयकोश, जिल्द-2, पृ० 677

(घ) **अभिषेक का क्रम** : युगनद्धकाय (परम पद) की प्राप्ति के लिये युगनद्धकाय की साधना का अधिकारी होना चाहिये, जिसे चतुर्थाभिषेक के द्वारा पूरा किया जाता है। युगनद्ध साधना के लिये प्रभास्वर ज्ञान का बोध अनिवार्य है, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक इसको अधिकारी बनाता है। प्रभास्वर ज्ञान के साक्षात्कार के लिये मायाकाय (काय-वाक्-चित्त विवेक) का ज्ञान होना अनिवार्य है, गुह्याभिषेक इसका अधिकारी बनाता है। मायाकाय की साधना हेतु उत्पत्तिक्रम का पूर्वाभ्यास अनिवार्य है, कलशाभिषेक इसका अधिकारी बनाता है। इस प्रकार अनुत्तर तन्त्रों में प्रायः इसी क्रम से अभिषेक दिया जाता है। गुह्यसमाज की अभिषेकविधि भी इसी का अनुसरण करती है¹।

तन्त्रों का वर्गीकरण

बौद्ध तन्त्र वाङ्मय के विद्वानों ने तन्त्रसाधना के स्वतन्त्र रूप से अनेक भेद किये हैं। किन्तु ये सब मुख्यतः क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तरयोग इन्हीं चार में समाहित हो जाते हैं। यहाँ संक्षेप में उनका विवरण दिया जा रहा है।

सम्पुट तन्त्र की टीका आमनायमंजरी में अभयाकर गुप्त ने तन्त्र को बाह्य और आभ्यन्तर के भेद में विभक्त कर क्रिया और चर्या तन्त्र को बाह्यतन्त्र एवं योग और अनुत्तरयोग तन्त्र को आभ्यन्तर तन्त्र कहा है। भोट विद्वान् कौटुल रिनपोछे ने प्रदीपोद्योतन के वचनों को उद्धृत कर उत्पत्तिक्रम अथवा निष्पत्तिक्रम का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों को आभ्यन्तर और मात्र उत्पत्तिक्रम का प्रतिपादन करने वाले तन्त्रों को बाह्यतन्त्र कहा है। सम्पुट तन्त्र में राग के चार प्रस्थानों के अनुसार तन्त्र के चार भेद किये हैं—

हासदर्शनपाण्यासिः स तु तन्त्रे व्यवस्थितः ।

रागश्चैव विरागश्च चर्बयित्वा घृणः स्थितः ॥ (6.3.49)

श्रद्धाकर वर्मा ने अनुत्तरयोगावतार² में योगतन्त्र की आभ्यन्तर समाधि और बाह्य चर्या के भेद से तन्त्र के क्रिया, चर्या, उभय, योग और अनुत्तरयोग नामक पाँच भेद कहे हैं। शान्तिपाद ने त्रियानव्यवस्था³ में इनको क्रिया, चर्या, योग, महायोग और अनुत्तरमहायोग नामक पाँच भागों में विभक्त किया है। डाकार्णव तन्त्र⁴ में भी इनकी संख्या क्रिया, चर्या

1. तो० सं० 1810, प० सं० 131-145

2. अनुत्तरयोगावतार, तो० सं० 3713, प० 104-115

3. त्रियानव्यवस्था, तो० सं० 3712, प० 103

4. तो० सं० 372, प० 219

योग, महायोग और महा अनुत्तरयोग के आधार पर पाँच कही गई हैं। वज्रज्ञान-समुच्चयतन्त्र¹ में भी इनकी संख्या पाँच ही बताई गई है। यथा—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, उभयतन्त्र, कल्पतन्त्र और योगतन्त्र। काण्हपाद ने योगरत्नमाला² में—“सर्वमन्त्रनयमिति पञ्चविधम्, क्रिया-चर्या-योग-योगोत्तर-योगनिरुत्तरभेदेन” कह कर पाँच भेद बताये हैं। पण्डित अलंकलश³ ने कहा है कि भगवान् बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट सभी तन्त्र पाँच भागों में विभक्त होते हैं। वे हैं—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र, अनुत्तरतन्त्र और अनुत्तर-मातृयोगतन्त्र। त्रिपिटककमल⁴ ने इनको क्रिया, मूल, चर्या, योग, योगगुरु और अनुत्तरयोग नाम के 6 भागों में बाँटा है। दीपंकर श्रीज्ञान ने बोधिपथप्रदीप की स्ववृत्ति⁵ में क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, कल्पतन्त्र, उभयतन्त्र, योगतन्त्र, अनुत्तरयोगतन्त्र में इनको बाँटा है। बुस्तोन ने क्रिया, चर्या, योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र के अलावा अन्तिम तन्त्र के पितृतन्त्र, मातृतन्त्र और अद्वयतन्त्र नामक तीन भेद कर सम्पूर्ण तन्त्र ग्रन्थों को सात भागों में विभक्त किया है⁶।

अनुत्तरतन्त्र के भेद

भोट देश के आचार्यों ने जिस प्रकार स्पष्ट रूप से पितृतन्त्र, मातृतन्त्र और अद्वयतन्त्र की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या की है, ऐसा भारतीय आचार्यों के ग्रन्थों में बहुत कम देखने को मिलता है। जैसे चर्या कृष्णपाद ने गुह्यतत्त्वप्रकाश⁷ में उत्पत्तिक्रम प्रधान को पितृतन्त्र और निष्पन्नक्रम प्रधान को मातृतन्त्र कहा है। अनुत्तरतन्त्रार्थसंग्रह में श्रद्धाकर वर्मा अनुत्तरतन्त्र के दो भेद करते हैं—उपाय योगतन्त्र और प्रज्ञा योगतन्त्र। वे कहते हैं कि जिसमें उदार तत्त्वों का प्रमुखता से निर्देश हुआ हो, वह उपायतन्त्र और जिसमें गम्भीरार्थ की प्रधानता रहती है, वह प्रज्ञातन्त्र⁸ कहलाता है। जिसमें स्कन्ध, आयतन और धातु की परिशुद्धि द्वारा देवभावना की प्रक्रिया प्रतिपादित हो, वह उपायतन्त्र है और जिसमें बोधिचित्त का विशुद्ध होकर देवरूप में प्रकट होना निर्दिष्ट हो, वह प्रज्ञातन्त्र कहलाता है।

1. तो० सं० 447, प० 284 ख।
2. योगरत्नमाला, हेवज्रतन्त्र, भाग-2, पृ० 156, सम्पा०-डी० स्नेल ग्रोव।
3. तो० सं० 1795, प० 3
4. त्रिनयप्रदीप, तो० सं० 3707, प० 21ख-26
5. बोधिपथप्रदीप स्ववृत्ति, पृ० 213, धर्मशाला, हि० प्र०, 1969
6. बुस्तोन संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-24, पृ० 975-990
7. तो० सं० 1450, प० 349 ख
8. तो० सं० 3713, प० 106 ख

बुस्तोन पितृतन्त्र और मातृतन्त्र का स्वरूपगत भेद इस प्रकार बताते हैं¹—समान आनन-भुजाओं वाला युगनद्धकाय उपाय एवं पितृतन्त्र का देव कहलाता है, जिसमें मातृ और पितृ देवों की आनन और भुजायें भिन्न रहकर युगनद्धकाय रूप हों, वे मातृतन्त्र के देव कहलाते हैं। वज्रपञ्जर को उद्धृत कर वे कहते हैं कि जिसमें तथागत वज्रडाकिनी के रूप में उत्थित और पार्षदों में मातृदेवियों की प्रधानता रहे, वह मातृतन्त्र कहलाता है। जहाँ देव पञ्चतथागत कुलों में प्रकट हों और अनुचरों में पितृदेवों की प्रधानता रहे, वह पितृतन्त्र है। जिसके आसन और सिंहासन रत्ननिर्मित हों और उसके ऊपर रत्नालङ्कार तथा चक्रादि से विभूषित, क्रोध से भरे वामपाद प्रत्यालीढ मुद्रा में प्रकट हो, वे देव उपाय तन्त्र के देव कहलाते हैं। शवासन, कपाल और अस्थि आभूषणों से अलंकृत, हाथ में कर्त्री, कपाल, खड्ग और डमरु आदि धारण किये व्याघ्र और गज चर्मों का परिधान पहने या निर्वस्त्र नग्न देव प्रज्ञा मातृतन्त्र के देव कहलाते हैं। प्रतिपादन की दृष्टि से नाड़ी और तिलक का जिसमें प्रधान रूप से निरूपण हुआ हो, वह मातृतन्त्र और जिसमें वायु का प्रधान रूप से प्रतिपादन हुआ हो, वह पितृतन्त्र कहलाता है। जिसमें साधक के पञ्चस्कन्धविशुद्ध पञ्चतथागतों में परिणत होने की प्रक्रिया उपदिष्ट हो, वह पितृतन्त्र और जहाँ पाँच धातुओं को परिशुद्ध कर पाँच देवियों में निरूपण करने की प्रक्रिया हो, वह मातृतन्त्र कहलाता है।

अन्य भोटाचार्य पद्म करपो² निष्पन्नक्रम की साधना के भेद के आधार पर अनुत्तरतन्त्र का भेद करते हैं। यथा—पञ्चक्रम की प्रक्रिया से जिसमें निष्पन्नक्रम की भावना की जाती है, वह पितृतन्त्र और जिसमें चार मुद्राओं द्वारा निष्पन्नक्रम की भावना हो, वह मातृतन्त्र तथा प्रत्याहार, समाधि आदि षडङ्ग योग के द्वारा निष्पन्नक्रम की साधना हो, वह अद्वयतन्त्र है। सिद्ध गोदुर्लभ³ ने भी चक्रसंवर की व्याख्या में इसी बात को कहा है।

अनुत्तरतन्त्र के इन भेदों के सम्बन्ध में आगमों में भी कई संदर्भों में वर्णन आया है। यथा—बुद्धकपालतन्त्र⁴ में योगतन्त्रों की संख्या ६ करोड़ और योगिनीतन्त्रों की संख्या १६ करोड़ बताई है। वज्रपञ्जर के अनुसार महामुद्रासाधनोपाय जिस तन्त्र में उपदिष्ट हो, वह योगिनीतन्त्र कहलाता है। वज्रगर्भालङ्कारतन्त्र⁵ में गुह्यसमाज और डाकिनीतन्त्र, पितृतन्त्र के नाम से व्याख्यात है। वज्रपञ्जर के तेरहवें पटल में हेवज्र, गुह्यकोश,

1. बुस्तोन संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-4, पृ० 44-48
2. पद्म-करपो संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-10, पृ० 38, टशीजोङ्, पालमपुर (हि० प्र०)।
3. चक्रसंवरव्याख्या, पृ० 8, दिल्ली संस्करण।
4. तो० सं० 424, पृ० 143
5. तो० सं० 419, पृ० 54 ख

वज्रामृतोद्भव, चक्रसंवर, स्वयं वज्रपञ्जर और संवरोदयतन्त्र इन ६ तन्त्रों को योगिनीतन्त्र कहा है¹। ऐसा प्रतीत होता है कि अनुत्तरतन्त्र के इन आगम शास्त्रों में वर्णित योग और योगिनीतन्त्रों के भेद के आधार पर ही मातृ और पितृ तन्त्रों को परिभाषित किया गया है। यह विषय विद्वानों के समक्ष विचारणीय है।

यद्यपि ये तीनों तन्त्र अद्वय तत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं, भाव की निष्पत्ति भी सब में समान है, यथा—

प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते ।

योनिः स्वभावतः प्रज्ञा उपायो भावलक्षणम् ॥ (गु० सं०, 18.32)

हेकारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञा च भण्यते ।

प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं तन्मे निगदितं शृणु ॥ (हे० त०, 1.1.5)

लेकिन साधना-विधि में सूक्ष्म प्राणवायु और तिलकयोग की प्रधानता एवं प्रभास्वर मायाकाय और महासुखस्वरूप मायाकाय की साधना के भेद से इन तन्त्रों और साधनाओं में सूक्ष्म अन्तर देखने को मिलता है। यहाँ गुह्यसमाज में निर्दिष्ट पितृतन्त्र की साधनाविधि पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा।

पितृतन्त्र का अभ्युदय

विनेय जनों के आधार पर पितृतन्त्र के तीन भेद हैं। रागप्रधान के लिये गुह्यसमाज, द्वेषप्रधान के लिये यमारितन्त्र और मोहप्रधान के लिये नामसंगीति की देशना हुई है²। कुछ विद्वान् नामसंगीति के स्थान पर वज्र-अरल्लि को मानते हैं³। गुह्यसमाज पितृतन्त्र का मुख्य ग्रन्थ है। विस्तृत मूलतन्त्र 25 हजार श्लोकप्रमाण और संग्रह मूलतन्त्र 1800 श्लोकप्रमाण का माना जाता है⁴, जो सत्रह परिच्छेदों में प्रबन्धित है। संग्रह तन्त्र ही मूल तन्त्र कहलाता है, क्योंकि इसके अठारहवें परिच्छेद उत्तरतन्त्र में संग्रह मूलतन्त्र से प्रश्नों को उठाकर उसकी व्याख्या की गई है। 18वें परिच्छेद के उत्तरतन्त्र होने के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इसकी देशना मूलतन्त्र के उसी विमानमण्डल और अनुचर देवों के मध्य में की गई है। गुह्यसमाज को सही ढंग से तभी समझा जा सकता है, जब इसके

1. तो० सं० 419, प० 37

2. ज्ञेयकोश, जिल्द-1, पृ० 466

3. सामान्यतन्त्र-पन्थेन सोदन्म डगपा, पृ० 36

4. बुस्तोन संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-15, पृ० 329

उत्तरतन्त्र और व्याख्यातन्त्र का सम्यक् रूप से अध्ययन हो। इसके वज्रमाला¹, सन्धि-व्याकरण², वज्रज्ञानसमुच्चय³, चतुर्देवीपरिपृच्छा⁴, वज्रहृदयालङ्कार⁵ और देवेन्द्रपरिपृच्छा⁶ ये ६ व्याख्यातन्त्र हैं। देवेन्द्रपरिपृच्छा भोट भाषा में अनुपलब्ध है। कुछ विद्वान् आर्य-अद्वयसमताविजयाख्य कल्पमहाराजतन्त्र को भी इसका व्याख्यातन्त्र मानते हैं। सर्वरहस्य-तन्त्र को भी कुछ विद्वान् गुह्यसमाज का ही व्याख्यातन्त्र मानते हैं। लेकिन शान्तिपाद ने इसकी व्याख्या योगतन्त्र में की है, ऐसा बुस्तोन का कथन है। गुह्यसमाज का अष्टादश पटल उत्तरतन्त्र है। यह मैत्रेय आदि बोधिसत्त्वों के द्वारा तथागत से प्रश्न करने पर उत्तर के रूप में उपदिष्ट है। इसमें सिद्ध थगनपाद, आचार्य भव्यकीर्ति और आचार्य विश्वमित्र के अनुसार क्रमशः 54, 72 और 56 प्रश्नों के उत्तर हैं, जिनमें बोधिसत्त्वों के सन्देह का निराकरण है⁷।

गुह्यसमाज की परम्परा

परवर्ती भोट आचार्य एवं इतिहासकार जमगोन अमस-जबस् ने गुह्यसमाज की परम्परा नामक ग्रन्थ में⁸ आर्यदेश में गुह्यसमाज की सात परम्पराओं को गिना है, यथा— 1. आर्य आम्नाय, 2. आचार्य ज्ञानपाद आम्नाय, 3. शान्तिपाद आम्नाय, 4. आचार्य ललितवज्र परम्परा, 5. पण्डित स्मृतिपाद आम्नाय, 6. कालचक्र के अनुसार व्याख्या परम्परा, 7. आनन्दगर्भ की परम्परा।

1. आर्य आम्नाय

ज्ञानडाकिनी द्वारा सिद्ध सरहपाद को उपदिष्ट परम्परा का नागार्जुन, आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति ने प्रचार किया। आचार्य नागार्जुन ने गुह्यसमाज के मूलतन्त्र में आये उत्पत्तिक्रम से सम्बद्ध सभी तथ्यों को लेकर पिण्डीकृत साधनोपायिका की रचना की। इसमें गुह्यसमाज के 32 देवमण्डलों की भावना त्रिध्यान द्वारा की जाती है। पिण्डीकृत में अपूर्ण प्रभास्वर में

1. तो० सं० 445, प० 208-277
2. तो० सं० 444, प० 158-207
3. तो० सं० 447, प० 282-286
4. तो० सं० 446, प० 277-281
5. वज्रगर्भाङ्कार, तो० सं० 451, प० 36-58
6. देवेन्द्रपरिपृच्छा, प्रदीपोद्योतन गुह्यसमाजतन्त्र टीका में उद्धृत।
7. बुस्तोन संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-15, प० 30-32
8. गुह्यसमाज की परम्परा का इतिहास, प० 24-44, दिल्ली से प्रकाशित।

विलीन कर पुनः उत्पन्न करने की विधि को गुह्यसमाजयोगतन्त्रोत्पादक्रमसाधनासूत्रमेलापक द्वारा पूरा किया। निष्पन्नक्रम के सम्बन्ध में पंचक्रम और बोधिचित्त विवरण तथा साधक की परिपक्वता के लिये अभिषेक और मण्डल से सम्बद्ध विंशतिविधि की रचना की, लेकिन यह तंजुर में नागबोधि के नाम से उपलब्ध होती है। नागार्जुन के शिष्यों में आर्यदेव अग्रणी हैं। इन्होंने गुह्यसमाज के निष्पन्नक्रम से सम्बद्ध चर्यामेलापक नामक 11 परिच्छेदों वाले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इसके अतिरिक्त चित्तविवेक से उत्तरित चित्तविशुद्धिप्रकरण, मायाकाय से उत्तरित स्वाधिष्ठानक्रम तथा प्रभास्वर से उत्तरित अभिसम्बोधिक्रमोपदेश नामक ग्रन्थों की भी रचना की। सिद्ध नागबोधि ने पिण्डीकृत साधना को परिशोध्य (जन्म, मृत्यु और अन्तराभव) के साथ जोड़ कर देव की अधि-इच्छा द्वारा प्रभास्वर में प्रवेश की विधि, कायमण्डल मण्डलराजाग्र के अस्पष्ट अंगों को स्पष्ट करने हेतु गुह्यसमाजव्यवस्थावली और निष्पन्नक्रम के प्रतिपादन हेतु कर्मान्तविभंग की रचना की। आचार्य राहुलधरश्रीमित्र ने युगलानन्दप्रकाशनाम सेकप्रक्रिया की रचना की, जो आर्य आम्नाय की मण्डल और अभिषेक विधि का प्रामाणिक एवं सम्पूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य शाक्यमित्र के नाम से गुह्यसमाज पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, लेकिन नागार्जुन रचित पंचक्रम के द्वितीय क्रम में इनका नाम प्राप्त होता है। इस विषय पर भोट देश के विद्वानों में कुछ मतभेद है। ब्ल्यू एनल्स के रचयिता गोस्लो जोन नु पल् द्वितीय क्रम के प्रारम्भ के 47 श्लोकों को नागार्जुन की रचना और शेष को शाक्यमित्र की रचना मानते हैं। लक्ष्मीकरा रचित पंचक्रमवृत्तार्थवैरोचन में शाक्यमित्र नागार्जुन के शिष्यों में अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि के थे। अतः प्रसन्नतावश इन्होंने अपने ग्रन्थ के द्वितीय क्रम में अपने शिष्य का नाम लिख दिया। कुछ विद्वानों के अनुसार शाक्यमित्र नागार्जुन का ही नामान्तर है। वज्रासनपाद ने इन्हें 84 सिद्धों के क्रम में 64वें स्थान पर रखा है और उन्हें महायानी नागार्जुन का शिष्य (लकड़हारा) कहा है।

इन पाँच आचार्यों के विचारों को चन्द्रकीर्ति ने उत्पत्ति और उत्पन्नक्रम की षट्कोटि और चार-नय की विधि से अलंकृत कर गुह्यसमाज पर प्रदीपोद्योतन टीकाग्रन्थ की रचना की। इसी क्रम (आर्य आम्नाय) में अभयाकर गुप्त ने पंचक्रममतिटीका चन्द्रप्रभा, वीर्यभद्र ने पंचक्रमपंजिका परमार्थ, भव्यकीर्ति ने पंचक्रमपंजिका, लीलावज्र ने पंचक्रम—विवरण, समयवज्र ने पंचक्रमपंजिका, मुनिश्री ने पंचक्रमार्थ योगिमनोहरा टिप्पणी की रचना की। इसी आम्नाय में अनेक सिद्धाचार्यों ने होम, पूजा आदि के परिवार-ग्रन्थों की रचना की है। सारांश में गुह्यसमाज की अनेक परम्पराओं में यह (आर्य आम्नाय) अन्यतम है। इसमें उत्पत्तिक्रम, त्रिध्यान और निष्पन्नक्रम, इस पंचक्रम की भावना की जाती है।

2. आचार्य ज्ञानपाद आम्नाय

इस परम्परा में गुह्यसमाज के 17 परिच्छेदों की मूलतन्त्र और अठारहवें परिच्छेद (उत्तरतन्त्र) एवं वज्रगर्भालंकार की व्याख्यातन्त्र के रूप में मान्यता है। आचार्य ज्ञानपाद ने मंजुश्री से भविष्यवाणी सुनकर गुह्यसमाज पर 14 ग्रन्थों की स्वतन्त्र रचना कर विस्तृत व्याख्या की है। यही ज्ञानपाद आम्नाय है। इनके मुख्य ग्रन्थों में द्विक्रमतत्त्वभावना, समन्तभद्रनामसाधना, चतुरंगसाधना, समन्तभद्र, मुक्तितिलक और आत्मसाधनावतार प्रमुख हैं। इनके शिष्यों में दीपंकरभद्र, प्रशान्तमित्र, राहुलधरभद्र और वज्रमहासुख आदि प्रमुख हैं। द ब्ल्यू एनल्स में इसकी परम्परा इस प्रकार गिनाई गई है—मंजुश्री, ज्ञानपाद, दीपंकरभद्र, आनन्दगर्भ, थगनपाद, शान्तिपाद, श्रद्धाकर, पद्माकर और तिब्बत के महान् अनुवादक रत्नभद्र। बुस्तोन के मत में आचार्यों का क्रम इस प्रकार है—मंजुघोष, अवधूतिपाद, बुद्धश्रीज्ञान, दीपंकर, आनन्दगर्भ, जपवज्रशान्तिपाद, श्रद्धाकर, पद्माकर और तिब्बत के रत्नभद्र। इस आम्नाय में उत्पत्तिक्रम की भावना चार सेवा अंगों द्वारा और निष्पन्नक्रम की साधना चार नाडीचक्रों में चार बिन्दुओं की भावना कर चार आनन्दों की उत्पत्ति के रूप में की जाती है। इस आम्नाय के पितृप्रधान होने पर भी साधनापद्धति और अभिषेकविधि मातृतन्त्र सदृश है।

3. शान्तिपाद आम्नाय

रत्नाकर शान्तिपाद ने मूलतन्त्र और उत्तरतन्त्र को मिलाकर कुसुममञ्जरी-गुह्यसमाज निबन्ध नामक ग्रन्थ की रचना कर गुह्यसमाज की एक स्वतन्त्र पद्धति की व्याख्या की है। इन्होंने आर्य आम्नाय के जिनपुत्र भूमिमिश्र से और ज्ञानपाद आम्नाय के भैषज्य से गुह्यसमाज का अध्ययन किया। लेकिन इन्होंने दोनों आम्नायों से भिन्न अक्षोभ्य प्रधान 25 कुलमण्डलों की परम्परा की स्थापना की है।

4. आचार्य ललितवज्र परम्परा

इस परम्परा के अनुसार गुह्यसमाज के निदान परिवर्त की मातृतन्त्र के अनुसार व्याख्या की जाती है। इस प्रकार यह भी एक स्वतन्त्र परम्परा के रूप में मान्य है।

5. पण्डित स्मृतिज्ञान आम्नाय

इन्होंने गुह्यसमाज का अध्ययन गुरु भद्रपाद से किया। इन्होंने भी अन्य परम्पराओं से भिन्न स्वतन्त्र व्याख्या और साधना पद्धति की स्थापना की। ये तिब्बत में भी गये थे तथा इन्होंने स्वयं षडंग योग व्याख्या आदि का अनुवाद भी किया।

6. कालचक्रव्याख्यानानुसार गुह्यसमाज की परम्परा

शान्तिपाद आदि छः द्वारपालों के आने के पश्चात् शम्भल से कालचक्र का आर्यदेश में आगमन हुआ था। तत्पश्चात् प्रायः सभी अनुत्तर तन्त्रों की व्याख्या कालचक्र के अनुसार प्रारम्भ हो गई थी। इसी के अन्तर्गत गुह्यसमाज की भी व्याख्या होने लगी, जो एक स्वतन्त्र प्रणाली के रूप में विकसित हुई। इसमें गुह्यसमाज की 9, 13, 19, 25, 32 और 34 देवमण्डलों की स्थापना विधि है। इनमें प्रथम और अन्तिम कालचक्रसदृश मण्डल स्थापना विधि कहलाती है।

7. योगतन्त्रव्याख्यानानुसार गुह्यसमाज की परम्परा

वज्रसत्त्व स्वरूप जहोर (जगद्गल) के राजा प्रकाशचन्द्र से आनन्दगर्भ ने अष्टादश तन्त्र का अध्ययन किया था। ये तारा द्वारा अधिष्ठित थे। ये गुह्यसमाज मूलतन्त्र, वैरोचन मायाजाल मूलतन्त्र और व्याख्या तन्त्रों को योगतन्त्र के तत्त्वसंग्रह के प्रथम धर्मधातु भाग से जोड़कर गुह्यसमाज की व्याख्या भी योगतन्त्र में करते हैं। जमगोन अमस् जबस् का मत है कि आर्यदेश में तन्त्रव्याख्या की दो प्रमुख धाराएँ थीं। मध्यदेशीय विद्वान् तन्त्रों को क्रिया आदि चार भागों में विभक्त कर व्याख्या करते हैं, लेकिन जहोर की परम्परा में आनन्दगर्भ आदि इसकी व्याख्या योगतन्त्र में करते हैं। कोङ्टुल रिनपोछे ने ज्ञेयकोश में गुह्यसमाज की 24 परम्पराओं के होने की बात कही है¹, जिनमें पद्मवज्र, अनंगवज्र, नागार्जुन, लीलावज्र, वज्रहास, त्रिकणेश्वर, सुधोषरक्षित, बुद्धज्ञान, रत्नाकरशान्तिपाद और आनन्दगर्भ आदि की परम्परा को प्रमुख माना है। तिब्बत में इन परम्पराओं में नागार्जुन, ज्ञानपाद, शान्तिपाद, वज्रहास, पद्मवज्र और आनन्दगर्भ की परम्परा थी, लेकिन उनमें आर्य आमनाय और ज्ञानपाद की परम्परा प्रमुख रही।

गुह्यसमाज के व्याख्यातन्त्रों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—वज्रमालातन्त्र निष्पन्नक्रम के अंगों पर प्रकाश डालने वाला महत्त्वपूर्ण और बृहद् ग्रन्थ है। वज्रपाणि द्वारा भगवान् से प्रश्न करने पर उत्तर के रूप में 68 परिच्छेदों में विभक्त कर इस तन्त्र की देशना हुई है। इसमें तन्त्र का परिशोध्य आधार (मृत्यु, जन्म और अन्तराभव), नाड़ी, वायु, तिलक और अभिषेक विधि के 20 प्रबन्ध, उत्पत्तिक्रम के त्रिध्यान, चार योग, 49 तत्त्वों और 32 देवों की, अ आदि 40 अक्षरों की व्याख्या और निदान परिवर्त के द्वारा तन्त्र के सम्पूर्ण अंगों को संगृहीत कर उनकी स्पष्ट व्याख्या की है। सन्धिव्याकरणनिर्देशतन्त्र

1. ज्ञेयकोश, जिल्द-2, पृ० 466, तिब्बत से प्रकाशित, 1984

गुह्यसमाज में आये वज्रजाप और उत्पन्नक्रम के नेयार्थों के अभिप्रायों को स्पष्ट करते हुए 12 पटलों में सम्पन्न होता है। चतुर्देवीपरिपृच्छातन्त्र लोचनादि चार देवियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में प्राणायाम, बोधिचित्त (तिलक), कायोत्पत्ति की विधि, मण्डल इत्यादि रहस्यों का खुलासा करते हुए 4 परिच्छेदों में पूर्ण होता है। वज्रज्ञानसमुच्चय गुह्यसमाज के अभिधेय, सप्तालङ्कार, षट्कोटिव्याख्या और मायाकाय की साधनाविधि का स्पष्ट निर्देश करता है। बुस्तोन का कहना है कि यह बृहद् ज्ञानवज्रसमुच्चय का एक अंगमात्र है, अर्थात् पूरा अप्राप्त है। श्रीवज्रहृदयालङ्कार 16 परिच्छेदों में निबद्ध है। इसमें मण्डलप्रवेश विधि, चार अभिषेकों की विधि और उनके गुण, मण्डल अभिसमयनिर्देश, तथागत कुलों का समय, मूलापत्ति, स्थूलापत्ति, समय और संवर इत्यादि विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। बुस्तोन के अनुसार यह व्याख्यातन्त्र है, क्योंकि इसमें मन्त्र और ज्ञान से काय की उत्पत्ति पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है।

वज्रदेह

अनुत्तरतन्त्र के पितृतन्त्र, मातृतन्त्र तथा अद्वयतन्त्र के निष्पन्नक्रम की भावनाविधियों में यद्यपि समानता नहीं है, तथापि युगनद्धकाय की प्राप्ति तथा उसके आधार वज्रदेह, नाड़ी, वायु और तिलक में समानता है। वज्रदेह से तात्पर्य 36 स्कन्धों या 6 धातुओं के समूह से है। अनुत्तरतन्त्र का साधक कामधातु का सत्त्व ही हो सकता है, क्योंकि रूप तथा अरूप धातुओं में आकाश, वायु आदि कुछ ही धातु होते हैं, अर्थात् वज्रदेह के लिये आवश्यक स्कन्ध तथा धातु का अभाव रहता है। 6 धातुओं को स्पष्ट करते हुए संवरोदयतन्त्र में कहा है—

त्वङ् मांसकं च रक्तं च मातृजा इति कथ्यते ।

स्नायुर्मज्जा च शुक्रं च पितृजा इति कथ्यते ।

एवं षाट्कौशिकं पिण्डं वज्रसत्त्ववचो यथा ॥ (2. 28-29)

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मज्जा और शुक्र इन 6 धातुओं से सम्पन्न यह काय ही निष्पन्नक्रम का परिशोध्य है। इसे समल निर्माणकाय¹ भी कहते हैं। इसी प्रकार 36 स्कन्धों का वर्णन निम्नलिखित है—

(क) षट्स्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान तथा ज्ञान।

(ख) षड्धातु—क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश और विज्ञान।

- (ग) षडिन्द्रिय—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन।
 (घ) षड्विषय—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म।
 (ङ) षट्कर्मेन्द्रिय—मुख, हाथ, पैर, लिंग, विष्टा और शुक्र।
 (च) षट्कृत्येन्द्रिय—बोलना, लेना, जाना, मूत्र, मल और शुक्र का संक्रमण।

नाड़ी एवं चक्र

संवरोदय तन्त्र के अनुसार मनुष्य के शरीर में 72 हजार नाड़ियाँ हैं। इनमें से प्रमुख 120 नाड़ियों का विभाजन इस प्रकार है—उष्णीषचक्र में 32, कण्ठचक्र में 16, हृदयचक्र में 8 और नाभिचक्र में 64।

इनमें से भी प्रधान तीन नाड़ियाँ इस प्रकार हैं—ललना, रसना तथा अवधूती (मध्यमा)। हेवज्रतन्त्र में कहा भी है—

तिस्रो नाड्यः प्रधानाः— ललना, रसना, अवधूती चेति।

ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायसंस्थिता ।

अवधूती मध्यदेशे ग्राह्यग्राहकवर्जिता ॥

अक्षोभ्यावहा ललना रसना रक्तवाहिनी ।

प्रज्ञाचन्द्रवहा ख्याताऽवधूती सा प्रकीर्तिता ॥

अवधूती को मध्यमा, राहु, शंखिनी इत्यादि अनेक पर्यायों से कहा जाता है। अवधूती नाड़ी के सम्बन्ध में आचार्यों में एकमत नहीं है। कुछ इसे काल्पनिक तो कुछ अतिसूक्ष्म (अश्वकेशसदृश) मानते हैं। अन्यत्र अवधूती को सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त माना जाता है, तो अन्य आचार्यों के अनुसार घ्राण से होते हुए, उष्णीष से लेकर रीढ़ की हड्डी के साथ होते हुए नाभिक्षेत्र से चार अंगुल नीचे तक इसकी व्याप्ति है। कहीं गुह्येन्द्रिय के अग्र भाग तक अथवा कहीं पादतल तक अवधूती के होने की चर्चा मिलती है¹। इसी प्रकार नाड़ी-चक्रों की संख्या में भी ऐकमत्य नहीं है। विभिन्न ग्रन्थों में 4, 6 अथवा 18 चक्रों का वर्णन आता है। आचार्य रङ्गजुङ्ग दोर्जे का मत है कि जैसे ज्ञान का मूल मध्यमा (निष्प्रपञ्च) है, उसी प्रकार भाव का मूल भी महाप्राण नाड़ी है। वे कहते हैं कि 24000 चन्द्र एवं शुक्रवाहिनी नाड़ी ललना हैं, 24000 सूर्य एवं शोणितवाहिनी नाड़ी रसना हैं। 24000 वायुवाहिनी नाड़ी मध्यमा हैं²।

1. जम्-पल्-पाओ विरचित नडपादषडङ्गयोगभावना, भूटान संस्करण।
2. रङ्ग-जुङ्ग दोर्जे विरचित गम्भीराभ्यन्तरार्थ, रुमतेग, सिक्किम संस्करण।

अवधूती की दाहिनी ओर रसना तथा बायीं ओर ललना ये दो प्रधान नाड़ियाँ नाभि से चार अंगुल नीचे विश्लिष्ट होकर नाभिप्रदेश में गुर्दे की महानाड़ी से सम्बद्ध होती हैं। संक्षेप में ललना शुक्रवाहिनी और रसना रक्तवाहिनी हैं। ललना और रसना उष्णीष चक्र से लेकर गुह्येन्द्रिय चक्र तक अवधूती से आलिङ्गित रहती हैं।

वायु

गुह्यसमाज के व्याख्यातन्त्र वज्रमाला के 12वें पटल में 108 वायुओं का वर्णन है। उनमें प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान वायु प्रमुख हैं तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय इनके अंग हैं। कालचक्र में इन दस वायुओं का और उनके कृत्यों का वर्णन मिलता है¹। हमारे शरीर में उपस्थित महाप्राण वायु ही सभी अन्य वायुओं का मूल एवं आधार है। इसके बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकता। यह हृदयकमल में स्थित है।

तिलक

तिलक का अर्थ है महासुख या उसका हेतु। इसके तीन भेद हैं—1. निष्प्रपञ्च तिलक, 2. अविद्या तिलक, 3. द्रव्य तिलक। सहज ज्ञान ही मूल निष्प्रपञ्च तिलक है, अर्थात् आद्यन्त रहित त्रिकायात्मक स्वचित्त ही मूल निष्प्रपञ्च तिलक है। यह कर्मवश शुक्र और शोणित के संसर्ग से ग्राहक और ग्राह्य के रूप में उत्पन्न होकर विषय-विषयी भाव ग्रहण करता है, जो भ्रान्त एवं अविद्याजनित होता है। इसे ही अविद्या तिलक कहते हैं। सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियों में व्याप्त तिलक ही द्रव्य तिलक कहलाता है। संक्षेप में मध्यमा नाड़ी, अनाहत वायु, निष्प्रपञ्च तिलक एक ही तत्त्व हैं। यह सभी निजचित्त, सहजज्ञान तथा प्रभास्वर ही हैं, जो आद्यन्तरहित हैं। इसे नाड़ी तब कहा जाता है, जब प्राणियों के महाप्राण का आश्रय बनता है। इसके अभाव में मध्यमा, ललना और रसना का प्रादुर्भाव ही असंभव है। यह अनाहत वायु भी है, जो चित्त के साथ अनादिकाल से अभिन्न है। इसे तन्त्रशास्त्र में पञ्च प्रभामय वायु कहा गया है। इससे क्रमशः स्थूल रूप अग्नि इत्यादि का सृजन होता है। यह निष्प्रपञ्च तिलक ही कर्मवश शुक्रशोणित के संसर्ग के कारण अविद्या तिलक कहलाता है, जो कालान्तर में जन्म ग्रहण कर स्थूल काय में द्रव्य तिलक के रूप में प्रकट होता है। नाड़ी, वायु और तिलक मात्र यह अवस्था भेद है। संक्षेप में यही वज्रदेह का स्वरूप है।

मण्डल

तन्त्रशास्त्र में गुरु के द्वारा शिष्य को जिस स्थान पर अभिषेक दिया जाता है, वह मण्डल कहलाता है। इसके सात भेद हैं—

- 1-4. कलशाभिषेक से सम्बद्ध चार मण्डल हैं—रजोमण्डल, पटमण्डल, समाधिमण्डल तथा कायमण्डल।
5. गुह्याभिषेक से सम्बद्ध संवृतिबोधिचित्त मण्डल।
6. प्रज्ञाज्ञानाभिषेक से सम्बद्ध भगमण्डल।
7. चतुर्थाभिषेक से सम्बद्ध परमार्थ बोधिचित्त मण्डल।

कलशाभिषेक के मण्डल को स्वरूपगत आश्रय विमानमण्डल तथा आश्रित देवसमूहमण्डल के भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। तन्त्रों की उत्कृष्टता और तन्त्र के समान होने पर भी देवों की शान्त, क्रोध, पुष्ट आदि के भेद से आश्रय-आश्रित देवमण्डलों की विभिन्नता भी देखने को मिलती है। यदि गुरु तत्त्वज्ञ हो और शिष्य भी तीक्ष्णेन्द्रिय हो, तो समाधिमण्डल में भी अभिषिक्त करने का विधान है¹। गुह्याभिषेक का मण्डल संवृति बोधिचित्त मण्डल है, अर्थात् गुरु (पितृ-मातृ) युगनद्ध समापत्ति में स्थित उत्पन्न महासुख का मण्डल है। इस युगनद्ध-समापत्ति से प्राप्त द्रव्य का शिष्य सेवन कर महासुख का अनुभव करता है। यही गुह्यमण्डल कहलाता है। प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का मण्डल भग है, जिसमें स्थित होकर शिष्य चतुरानन्दों का साक्षात्कार करता है। यही प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का मण्डल है। हेवन्न में कहा है—

मण्डलं (मण्डं तु) सारमित्युक्तं बोधिचित्तं महासुखम् ।

आदानं तत् करोतीति मण्डलं मलनं मतम् ॥

(हे० तं० 2.3.27)

चतुर्थाभिषेक का मण्डल परमार्थ मण्डल है। प्रदीपोद्योतन में कहा है—

मण्डं सारं परमार्थसत्यम्, तं लाति गह्णातीति मण्डलम् ।

(गु० सं० प्र०, पृ० 45)

वहीं व्याख्यातन्त्र को उद्धृत कर कहा है—

सर्वाङ्गभावनातीतं कल्पनाकल्पवर्जितम् ।

मात्राबिन्दुसमातीतम् एतन्मण्डलमुत्तमम् ॥ (गु० सं० प्र०, पृ० 45)

1. अभिषेकार्थतत्त्वप्रकाश, पृ० 2, धर्मशाला (हि० प्र०) संस्करण।

उक्त सभी क्रियाएँ स्वकाय को इष्टदेव में परिणत कर सम्पन्न की जाती हैं, अतः काय को भी मण्डल कहा जाता है। गुह्यसमाज उत्तरतन्त्र में कहा भी है—

भगं मण्डलमाख्यातं बोधिचित्तं च मण्डलम् ।

देहं मण्डलमित्युक्तं त्रिषु मण्डलकल्पना ॥ (गु० सं०, 18.99)

यह भग, बोधिचित्त और परमार्थ मण्डल निष्पन्नक्रम का मण्डल कहलाता है।

कायमण्डल का प्रयोग उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम दोनों में होता है। उत्पत्तिक्रम के मण्डलों में से गुह्यसमाज के मण्डल को नागार्जुन रचित पिण्डीक्रम के आधार पर यहाँ रेखाङ्कित कर यथासंभव दर्शाया जा रहा है। यद्यपि ऊपर कहा जा चुका है कि आश्रय (विमानमण्डल) और आश्रित (इष्टदेव मण्डल) के भेद से इसके दो भेद हैं, तथापि इन दोनों मण्डलों के संयोग से ही मण्डल की पूर्णता सिद्ध होती है। इसी मण्डल में शिष्य को अभिषिक्त किया जाता है।

विमान मण्डल की बाह्य रूपरेखा को स्पष्ट करते हुए नागार्जुन ने पिण्डीक्रम में कहा है—“भावयेत् परमार्थेन निःस्वभावभवत्रयम्” (पि० क्र० 1.16), अर्थात् सर्वप्रथम त्रिभुवन की निष्प्रपञ्च-शून्यता में भावना करें, तत्पश्चात् “आकाशधातुमध्यस्थं भावयेद् वायुमण्डलम्” (पि० क्र० 1.16) के अनुसार वायुमण्डल, अग्निमण्डल, जलमण्डल, भूमिमण्डल और फिर उस पर कूटागार (विमानमण्डल) की भावना करें। आश्रित इष्टदेवों की न्यासविधि को भी पिण्डीक्रम में ही स्पष्ट किया गया है।

यहाँ साधक के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि आश्रय-आश्रित उभयमण्डल स्वचित्त ही है। तन्त्रों में मण्डल-निर्माणविधि का तरीका भिन्न-भिन्न है। वे सभी अपने में प्रमाण हैं। प्रयोजनवश विभिन्न मण्डल-निर्माण-विधियों का वर्णन हुआ है।

मुद्रा

मुद्रा शब्द सूत्र और तन्त्र दोनों नयों में उपलब्ध होता है। बौद्धों का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि सभी धर्म अनित्य, अनात्म और दुःखस्वरूप हैं तथा निर्वाण परम शान्त है। यह अनतिक्रम्य है। अतः इसे ही चतुराज्ञाप्रज्ञसददर्शनमुद्रा कहते हैं। पारमितानय में चतुष्कोटिविनिर्मुक्त निष्प्रपञ्च शून्यता को ही मुद्रा कहा जाता है। जैसे सागरमति-परिपृच्छासूत्र में कहा है—हे सागरमति! सभी धर्म विमुक्ति मुद्रा से मुद्रित हैं। अहंकार की परिशुद्धि विमल मुद्रा है, इत्यादि। बीस मुद्राओं की गिनती भी वहीं पर की गई है।

मैत्रेयपरिपृच्छा¹ में भी सभी धर्मों की स्वरूपशून्यता वर्णित है। उसी को मुद्रा भी कहा गया है।

मञ्जुश्रीमूलकल्प में पूजादि के समय प्रयोग में लाने वाली हस्तमुद्राओं को भी मुद्रा कहा है, यथा—

मध्यमाङ्गुलिसंश्लिष्टा भवेदेकशिखा ध्रुवम् ।

एषा मुद्रा महामुद्रा संबुद्धैस्तु प्रकाशिता ॥ (पृ० 279)

मुद्रा के चार अन्य भेद इस प्रकार हैं—महामुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और कर्ममुद्रा। योगतन्त्र में स्वयं को इष्टदेव में परिणत कर तत्सदृश भावना करने को महामुद्रा कहा है। काय, वाक्, चित्त और कर्म (क्रिया-कलाप) के आधार पर मुद्रा के परिशोध्य धर्म भी चार हैं। काय को महामुद्रा से, वाक् को धर्ममुद्रा से, चित्त को समयमुद्रा से तथा कर्म को कर्ममुद्रा से परिशोधित किया जाता है। सर्वतथागततत्त्वसंग्रह में महामुद्रा का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

यथा राज्ञा स्वमुद्राभिः मुद्रयते राजशासनम् ।

महात्मना स्वमुद्राभिरामुद्रयन्ते तथा जनाः ॥

कायवाक्चित्तवज्राणां प्रतिबिम्बप्रयोगतः ।

महात्मनां महामुद्रा इति विज्ञाय सिद्ध्यति ॥ (पृ० 189)

किं च अनुत्तरतन्त्र में भी, जहाँ सामान्य पूजापाठ से सम्बद्ध अनेक सांकेतिक हस्तमुद्राओं का वर्णन आता है, वहीं उत्पत्तिक्रम की साधना में इष्टदेव की भावना करना कर्ममुद्रा, अक्षर का न्यास करना धर्ममुद्रा, बीजाक्षरों से रश्मि का स्फुरण तथा संहरण समयमुद्रा और देव की आश्रय-आभास-शून्यता की भावना ही महामुद्रा है।

निष्पन्नक्रम की साधना में मुद्रा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए हेवज्र में कहा है—“वज्रम् अभेद्यज्ञानम्, तेनानेन मुद्रयते, मुदं हर्षो महासुखं जायते, तेन हेतुना मुद्रेत्युच्यते” (हे० त० टी०, प० 18 ख)। इसके भी चार भेद हैं—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और महामुद्रा। कर्म से उत्पन्न स्त्री ही कर्ममुद्रा है। अवधूती नाड़ी धर्ममुद्रा है, जो वायुयोग के द्वारा सहजानन्द आदि चार आनन्दों का साक्षात्कार कराती है। महासुख-शून्य अद्वयज्ञान महामुद्रा है, क्योंकि यह अनुत्तर बोधिचित्त महासुखस्वरूपिणी है। प्रभास्वर

1. मैत्रेयप्रस्थानसूत्र, तो० 198, प० 280

और मायाकाय का अभिन्न रूप (इष्टदेव) समयमुद्रा है। फलावस्था में निर्माणकाय समयमुद्रा है, महासुखकाय महामुद्रा, धर्मकाय धर्ममुद्रा तथा संभोगकाय कर्ममुद्रा है। संक्षेप में यही मुद्रा का सामान्य रूप प्रतीत होता है।

क्रमद्वय की व्यवस्था

पारमितानय में परमार्थसत्य संवृतिसत्य को और संवृतिसत्य परमार्थसत्य को पुष्ट करता है, क्योंकि संवृतिसत्य उच्छेद का और परमार्थसत्य शाश्वत का निषेध करता है, अर्थात् परमार्थसत्य स्वभावसत्ता का निषेध कर सापेक्षता अथवा संवृतिसत्य का बोध कराता है और संवृतिसत्य के आश्रय से ही परमार्थसत्य का बोध होता है। पारमितानय में जो स्थान सत्यद्वय का है, वही वज्रयान में क्रमद्वय का है। समाजोत्तरतन्त्र में कहा है—

क्रमद्वयमुपाश्रित्य वज्रिणा धर्मदेशना ।

क्रममौत्पत्तिकं चैव क्रममौत्पन्नकं तथा ॥ (गु० स० 18.83)

हेवज्रतन्त्र में भी कहा है—

क्रमद्वयं समाश्रित्य वज्रिणा धर्मदेशना ।

उत्पत्तिमात्रं कथितमुत्पन्नं कथयाम्यहम् ॥ (1.8.25)

भोट आचार्य मंगलध्वज ने मणिप्रभा में क्रमद्वय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—सत्त्वों के उत्पत्तिसदृश सूर्यासन, आयुध, बीजाक्षर आदि की परिणति से देवमण्डल की भावना को उत्पत्तिक्रम तथा मृत्युकाल में भूतों के संहारक्रमसदृश उत्पत्तिक्रम के देवों के वर्ण, संस्थान आदि को बिन्दु में परिवर्तित कर तथा बिन्दु को नाद में और नाद को निष्प्रपञ्च गगनसदृश अद्वय में परिवर्तित करने को ही निष्पन्नक्रम कहा गया है¹। गुह्यसमाज की टीका प्रदीपोद्योतन में भी उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम को नेयार्थ और नीतार्थ, अर्थात् कल्पित और निष्पन्न (नीतार्थ) की साधना कहा है। यथा—“विद्याभिषेकं दत्त्वा नेयनीतार्थभेदेन कल्पितनिष्पन्नक्रमसाधनं प्रतिपादितवान्”। क्रमद्वय को स्पष्ट करते हुए आचार्य चोंखापा ने महामन्त्रक्रम नामक ग्रन्थ में कहा है कि यद्यपि दोनों साधनाएँ अपने-अपने उपायक्रम के आश्रय से देवकाय में निष्पन्न होती हैं, लेकिन उत्पत्तिक्रम में साधक स्वर, व्यञ्जन, अक्षर, सूर्य, चन्द्र और आयुध आदि को परिणत कर स्वयं को इष्टदेव में कल्पित करता है। लेकिन निष्पन्नक्रम में ललना और रसना में बहने वाली वायु को

1. मणिरश्मि, पृ० 34, दिल्ली संस्करण।

अवधूती नाड़ी में प्रवेश करा कर आलोक, आलोकाभास, आलोकोपलब्धि और प्रभास्वर इन चार ज्ञानों के क्रमशः प्रकट होने पर सूक्ष्म प्राणचित्त से साधक मायाकाय में उत्थापित होता है, जो कल्पित न होकर अकृत्रिम देवकाय में निष्पन्न होता है¹। इस प्रकार कल्पित और अकल्पित के भेद से देवकाय के भी दो भेद होते हैं। इसी तथ्य को आचार्य सेरतोगपा ने भी वज्रयानभूमिफलव्यवस्था में कहा है कि जो साधक भावनाबल से वायु को मध्यमा नाड़ी में प्रवेश नहीं करा पाता तथा निष्पन्नक्रम की सन्तति को परिपक्व करने के लिये जन्म, मृत्यु और अन्तराभवसदृश बुद्धि (विकल्प) के द्वारा कल्पित कर भावना करता है, वह उत्पत्तिक्रम है। कृत्रिम योग, विकल्पित योग, प्रथम योग, परिपक्व योग आदि इसके नामान्तर हैं। भावना-बल से वायु के मध्यमा में प्रवेश, स्थिति और विलीन होने से उद्भूत शैक्ष सन्तति योग निष्पन्नक्रम योग कहलाता है। अकृत्रिम योग, अविकल्पित योग, द्वितीय क्रमयोग और मुक्ति योग इसके पर्याय हैं²। जिस प्रकार संवृतिसत्य का आश्रय लिये बिना परमार्थसत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता, उसी प्रकार उत्पत्तिक्रम की साधना के बिना निष्पन्नक्रम का बोध भी सम्भव नहीं है। पंचक्रम में कहा भी है—

उत्पत्तिक्रमसंस्थानां निष्पन्नक्रमकाङ्क्षिणाम् ।

उपायश्चैष संबुद्धैः सोपानमिव निर्मितः ॥ (1.2)

उत्पत्तिक्रम

गुह्यसमाज में उत्पत्तिक्रम की भावना चार सेवा-विधियों द्वारा की जाती हैं। ये इस प्रकार हैं—

सेवाविधानं प्रथमं द्वितीयमुपसाधनम् ।

साधनं तु तृतीयं वै महासाधनं चतुर्थकम् ॥ (18.35)

सेवा, उपसाधन, साधन और महासाधन—क्रमशः ये उत्पत्तिक्रम के चार भेद हैं। गुह्यसमाज आदि में इनका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

सेवा

सेवा को स्पष्ट करते हुए चन्द्रकीर्ति ने प्रदीपोद्योतन में कहा है—“सेव्यते आलम्ब्यत इति सेवा, सैव समयो भूभागानां संयोजनं निष्पादनं सेवासमयसंयोगः प्रथम-

1. महामन्त्रक्रम, प० 321, धर्मशाला संस्करण।

2. वज्रयानभूमिमार्गव्यवस्था, प० 58, धर्मशाला संस्करण।

मङ्गम्...।” इसी को भव्यकीर्ति ने प्रदीपोद्योतन की टीका में कहा है कि शून्यता की भावना, ज्ञानभूमि, अर्थात् परमार्थमण्डल की भावना सेवा है। आचार्य चोंखापा भी वरबोधि के वचनों को उद्धृत करते हुए कहते हैं¹ कि बोधिचित्त-शून्यता में आलम्बन करना सेवा है। तत्त्व बोधि है और उसकी भावना करना सेवा। विमानभावना आदि सेवा के अंग हैं।

उपसाधन

गुह्यसमाज में उपसाधन को इस प्रकार कहा है—“उपसाधनसिद्ध्यग्रे वज्रायतन-विचारणम्” (12.62)। शून्यता की भावना करते हुए सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल और बीजाक्षर आदि का क्रमशः न्यास कर महामुद्रा काय में परिणत कर निष्पन्न करना उपसाधन है। कृष्णयमारितन्त्र आदि में आये उत्पत्तिक्रम के चार योगों में से तीसरे अतियोग की साधना तक का उपसाधन में संग्रह हो जाता है। अन्य अनुत्तरतन्त्र के ग्रन्थों में प्रतिपादित पंचाभिसंबोधि से लेकर आयतन अधिष्ठान तक की साधना भी उपसाधन में संगृहीत हो जाती है। आयतन अधिष्ठान का अधिप्राय कायमण्डल में बीजाक्षर या गुह्यसमाज में आये 32 देवों का न्यास करने से है।

साधन

साधन के सम्बन्ध में गुह्यसमाज में कहा है—“साधने चोदनं प्रोक्तं मन्त्राधिपति-भावनम्” (12.62)। ॐकार आदि द्वारा काय, वाक्, चित्त रूपी त्रि-द्वार को अधिष्ठित करने हेतु त्रिवज्र को प्रचोदित कर अपने साथ अभिन्न चर्यासमय में स्थित होना साधन है। त्रि-द्वार और त्रि-वज्र की अभिन्नता तथा समाधिसत्त्व, ज्ञानसत्त्व और मन्त्राधिपति तीनों की सिद्धि होने से यह साधन है।

महासाधन

गुह्यसमाज में कहा है—“महासाधनकालेषु बिम्बं स्वमन्त्रवज्रिणः। मुकुटेऽधिपतिं ध्यात्वा सिद्ध्यते ज्ञानवज्रिणः॥” (12.63) मन्त्रवज्री, अर्थात् भावित स्वकायमण्डल के 32 देवों के अधिदेव वज्रपद्माभिसमापत्ति वज्रधृक् द्वारा अभिषिक्त कर महामुद्रा-काय की सिद्धि हुई, ऐसी भावना करना ही महासाधन कहलाता है।

1. महामन्त्रक्रम, प० 339, धर्मशाला संस्करण।

संक्षेप में सभी धर्मों को शून्यता में परिवर्तित करने से लेकर विमान और आसन तक की भावनाविधि सेवा योग है। प्रधान देव की भावना से आयतन अधिष्ठान तक का क्रम उपसाधन योग, काय-वाक्-चित्त त्रिवज्र से अभिन्न चर्यासमय में अधिष्ठित करने तक साधन योग तथा अभिषेक और स्तुति आदि महासाधन है¹।

निष्पन्नक्रम

गुह्यसमाज की निष्पन्नक्रम की भावना नागार्जुनरचित पञ्चक्रम तथा गुह्यसमाज में उक्त षडङ्ग योग द्वारा सम्पन्न होती है। स्वरूपगत षडङ्ग योग भी पंचक्रम में ही संगृहीत हो जाते हैं। यथा—कायविवेक में प्रत्याहार और ध्यान, वाक्विवेक में प्राणायाम, प्रभास्वर में धारणा तथा युगनद्ध में अनुस्मृति और समाधि।

काय-विवेक

“काय” समूहबोधक शब्द है। यह देह, मांस, रुधिर आदि अनेक धर्मों का समूह है और चित्त अनेक क्षणों का। यही काय कहलाता है। इन कार्यों के तत्त्वों का गुह्यसमाज में इस प्रकार वर्णन है—

पञ्चस्कन्धाः समासेन पञ्चबुद्धाः प्रकीर्तिताः । (17.50)

पृथिवी लोचना ख्याता अब्धातुर्मात्मकी स्मृता ।

पाण्डराख्या भवेत् तेजो वायुस्तारा प्रकीर्तिता ॥ (17.51)

समाहित अवस्था में ललना और रसना में बहने वाली सभी वायुओं को अवधूती के अधोभाग में संगृहीत किया जाता है और परिणामस्वरूप पृष्ठलब्ध अवस्था में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देवसमूह में प्रकट करना होता है। इससे सामान्य आभास (घट, पट आदि) और उनके प्रति अभिनिवेश का क्षय होता है। संक्षेप में यही काय-विवेक कहलाता है। काय-विवेक और वाक्-विवेक का साधक वैरोचन सप्त धर्मासन लगा कर बैठता है, अर्थात् पैर वज्रासन मुद्रा में, हाथ समाहित मुद्रा में, रीढ़ की हड्डी सीधी, छाती फैली हुई तथा भुजायें सीधी, कण्ठ कुछ झुकी हुई, जिह्वा तालु को स्पर्श करती हुई तथा होंठ कुछ खुले हुए और चक्षु को नासिकाग्र में स्थित करना ये सात आसन हैं। वज्रासन से अपान वायु वश में रहती है। समाहित मुद्रा में स्थित होने से नाभि पर दबाव पड़ता है, जिससे

1. आर्यदेवविरचित चर्यामेलापक, प० 51ख

अग्नि शान्त रहती है। रीढ़ की हड्डी सीधी रखने से व्यान वायु, भुजायें सीधी तथा छाती फैली रहने से प्राण वायु और कण्ठ के झुके रहने तथा जिह्वा का तालु में स्पर्श होने से उदान वायु बद्ध हो जाते हैं और नासाग्र में दृष्टि रखने से सभी वायु शान्त रहते हैं। वज्रासन लगा कर चित्त को अवधूती के अधोभाग में स्थित ललना और रसना के मिलनस्थल के मध्य सूक्ष्म तिलक में एकाग्र करने से वायु और चित्त का प्रवेश समान हो जाता है तथा अभिन्नतावश सभी वायु अवधूती में प्रवेश कर जाते हैं। इसके प्रवेश होने पर लक्षण के रूप में दोनों नासिकाग्र से वायु समान रूप से बहने लगती है। वायु के मध्यमा में स्थित हो जाने पर श्वास-प्रश्वास बन्द हो जाते हैं तथा इनके लीन हो जाने पर बाह्य मरीचि आदि तथा आभ्यन्तर आलोक आदि ज्ञान प्रकट होते हैं। वायु के मध्यमा में प्रवेश होने से हृदयचक्र के ऊर्ध्व और अधोभाग की सभी नाड़ियाँ भी शिथिल हो जाती हैं।

वाक्-विवेक

प्राणायाम (वज्रजाप) का आश्रय लेकर वायु और मन्त्र (ॐ आः हूँ) के अभिन्न योग द्वारा ग्राह्य-ग्राहक विकल्प का नाश करने वाले शैक्ष सन्तति का योग ही वाक्-विवेक है। इसकी भावना पञ्चज्ञानमय श्वासों को हृदय से नासिकाग्र में स्थित कर प्राणायाम द्वारा की जाती है। इसकी सहायता से ललना और रसना में बहने वाले सभी कर्म-वायु मध्यमा में प्रवेश पाते हैं। इसको गुह्यसमाज में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

पञ्चज्ञानमयं श्वासं पञ्चभूतस्वभावकम् ।

निश्चार्य पिण्डरूपेण नासिकाग्रे तु कल्पयेत् ॥

पञ्चवर्णं महारत्नं प्राणायाममिति स्मृतम् ॥ (18.14)

हृदय के अनाहत बिन्दु पर चित्त के स्थित होने से क्षिति, जल, अग्नि आदि धातुएँ क्रमशः विलीन हो जाती हैं। परिणामस्वरूप बाह्य मरीचि, धूप, दीपक की लौ आदि का आभास होगा और आभ्यन्तर में आलोक, आलोकाभास आदि ज्ञान प्रकट होंगे।

चित्त-विवेक

बाह्य मुद्रा और आभ्यन्तर प्राणायाम के द्वारा मूल वायु सहित सभी वायुओं को हृदय में स्थित अनाहत बिन्दु में विलीन कर तिलक में दृढ़ता प्राप्त करना या महासुख में स्थित होना चित्त-विवेक कहलाता है।

मायाकाय

चित्त-विवेक की पर्यन्तावस्था में प्रभास्वर प्रकट होता है, जिसका सहकारी प्रत्यय सूक्ष्म प्राणवायु तथा उपादान कारक (प्रत्यय) चित्त है, जो लक्षण और अनुव्यंजनों से विभूषित देवकाय में उत्थापित होता है। वही मायाकाय कहलाता है। स्वरूपगत काय के तीन भेद हैं—(१) कुशल और अकुशल के विपाक से उत्पन्न सुख-दुःख को झेलने वाला विपाककाय, (२) विभिन्न संस्कार तथा वासनाओं से प्रभावित होकर प्रतिभासित होने वाला स्वप्नकाय, (३) मार्ग में अशुद्ध अवस्था में मनोमय मायाकाय और शुद्ध अवस्था में प्रभास्वर से अभिन्न मायाकाय। मायाकाय का उपादान कारक विपाक नहीं हो सकता, क्योंकि यह प्राणी के जन्म लेने पर उत्पन्न होता है और मृत्यु अवस्था में नष्ट हो जाता है। स्वप्नकाय भी साधना का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि यह भी पूर्ववत् कालिक है। अतः निजचित्त, अर्थात् सूक्ष्म प्राणचित्त ही मायाकाय का आश्रय है। इसका बाह्य स्थूल काय गृहसदृश है। सूक्ष्म प्राणवायु मूल पाँच वायुओं में से प्राणवायु है। प्राणवायु भी सूक्ष्म और स्थूल के भेद से दो हो जाते हैं। स्थूल प्राणवायु से तात्पर्य है, जो मृत्युकाल से समाप्त हो जाता है और सूक्ष्म प्राणवायु वह होता है, जो इन्द्रियों का आश्रय न होकर मनोविज्ञान का आश्रय होता है। यह अनादिकाल से निरन्तर चित्त के साथ प्रवहमान रहता है। मृत्यु के पश्चात् भी अन्तराभव में उत्पन्न होता है। साधना के बल से यही मायाकाय के रूप में उत्थापित होता है। इसकी भावना भी चित्तविवेक की ही भाँति हृदय में स्थित अनाहत बिन्दु में क्षिति, जल आदि धातुओं का क्रमशः संहार करते हुए आलोक, आलोकाभास, आलोकोपलब्धि तथा प्रभास्वर ज्ञान के पश्चात् मायाकाय में की जाती है, यही मायाकाय की साधनाविधि है।

प्रभास्वर

सहज महासुख ही परमार्थ प्रभास्वर है। इसके अभिमुख होने पर संवृति, अर्थात् अशेष आभास प्रपञ्च का अन्त हो जाता है। चित्त की प्रकृति, जो प्रभास्वर तथा सभी धर्मों का स्वरूप है, वही आश्रय प्रभास्वर है। चित्त स्वसंवेद्य है। स्वसंवेद्य महासुख है। महासुख शून्यता से अभिन्न है। इसका साक्षात्कार वायुयोग प्रकृति में स्थित होकर तथा पिण्ड और अनुभेदन योग के द्वारा होता है, विचारमन्थन से नहीं। जैसे पीलिया रोग से ग्रस्त व्यक्ति को लाख बार शंख के श्वेत होने का व्याख्यान करने पर भी वह सफेद नहीं दिखता, अथवा जैसे काष्ठ से अग्नि दो लकड़ियों के रगड़ने से ही उत्पन्न होती है, सूक्ष्म टुकड़े करने पर नहीं, वैसे ही प्रभास्वर ज्ञान का भी ललना और रसना के रेचक, पूरक

और कुम्भक योग का, अर्थात् वायु योग के द्वारा जिसे वाक्-विवेक तथा चित्त-विवेक में कहा गया है, अनुसरण करने से क्रमशः आलोक, आलोकाभास तथा आलोकोपलब्धि ज्ञान के बाद प्रभास्वर ज्ञान का साक्षात्कार होता है। प्रकृति में स्थित होकर प्रभास्वर का साक्षात्कार करने की विधि सहजिया विधि है तथा पिण्ड और अनुभेदन योग का वर्णन पञ्चक्रम में मिलता है¹।

युगनद्ध काय

परमार्थ प्रभास्वर के प्रतिलोम में आलोकोपलब्धि के प्रकट होने पर चतुर्थ परमार्थ प्रभास्वर से युगनद्ध में प्रकट देवकाय ही युगनद्ध काय है। अनास्रव वज्रकाय और परमार्थ प्रभास्वर नामक सत्यद्वय का अभिन्न रूप अथवा शैक्ष सन्तति का पर्यन्त योग ही युगनद्ध काय का लक्षण है। यह परमार्थ प्रभास्वर और संवृति मायाकाय का युगनद्ध रूप है। अतः युगनद्ध कहलाता है। पंचक्रम में कहा भी है—

संवृतिं परमार्थं च पृथग् ज्ञात्वा विभागतः ।

सम्मीलनं भवेद् यत्र युगनद्धं तदुच्यते ॥ (6.13)

इस तरह यहाँ संक्षेप में पितृतन्त्र को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। तन्त्र जैसे अतिगुह्य विषय पर लिखना दुःसाहस करना है। अतः इस निबन्ध में दोष होना स्वाभाविक है। हम धर्मपालों से ऐसे दोषों के लिये क्षमाप्रार्थी हैं।



1. वज्रयानभूमिमार्गव्यवस्था, प० 223, धर्मशाला संस्करण।

मन्त्रनयानुसार बोधिपाक्षिक धर्मों के साथ देवता-योग

—बनारसी लाल—

[सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों का हेरुक मण्डल की सैंतीस वीरेश्वरियों के साथ तान्त्रिक भावना में किस प्रकार संयोजन कर साधना की जाती है, इसका निर्देश करते हुए बोधिपाक्षिक धर्मों का भावार्थ एवं परिचय प्रस्तुत निबन्ध में दिया गया है।]

पीठों के अध्ययनक्रम में हमने देखा कि 24 पीठों में स्थित वीर-वीरेश्वरियाँ बाह्यपीठ स्थान के साथ-साथ स्वदेहस्थ भी हैं। देहस्थ काय, वाक् और चित्त चक्र में स्थित ये डाकिनियाँ समण्डल तथागतकाय अर्थात् हेरुककाय के अवयव हैं। हेरुक मण्डल में तीन चक्र हैं काय, वाक् एवं चित्त। इसी मण्डल में 24 वीर-वीरेश्वरियाँ एवं मण्डल की दिशाओं और विदिशाओं में डाकिनियों सहित कुल 37 डाकिनियाँ विराजमान हैं। इस परिकल्पना को स्वदेहस्थ भावना के क्रम में बौद्धतन्त्र सिद्धान्तों के अनुसार प्रतिपादन में इसे देवता-योग (संयोजन) के नाम से इंगित किया गया है। इस देवता योग में इनकी सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों के साथ भावना किस प्रकार की जाती है, यह प्रदर्शित है। ये डाकिनियाँ हृदयादि स्थानों में नाड़ी रूप में अवस्थित मानी जाती हैं।

बोधि प्राप्ति के अनुकूल धर्म बोधिपाक्षिक धर्म कहे जाते हैं। ये भी सैंतीस हैं। तन्त्र शास्त्रों में कहा गया है कि मन्त्र एवं महायान में अधिमुक्ति रखने वाले साधक को ही देवता योग द्वारा अर्थात् सैंतीस योगिनियों के स्वभाव द्वारा समाधि में इसका प्रयोग करना चाहिए। अब प्रश्न है कि सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों की देवता-योग में किस रूप में भावना की जाती है। सर्वप्रथम सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्म निम्नलिखित हैं—चार स्मृत्युपस्थान हैं—कायानुस्मृत्युपस्थान, वेदनानुस्मृत्युपस्थान, धर्मानुस्मृत्युपस्थान और चित्तानुस्मृत्युपस्थान। चार ऋद्धिपाद हैं—छन्द ऋद्धिपाद, वीर्य ऋद्धिपाद, मीमांसा ऋद्धिपाद और चित्त ऋद्धिपाद। पाँच इन्द्रियाँ हैं—श्रद्धेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतीन्द्रिय, समाधीन्द्रिय और प्रज्ञेन्द्रिय। पाँच बल हैं—श्रद्धाबल, वीर्यबल, स्मृतिबल, समाधिबल एवं प्रज्ञाबल। सात बोध्यङ्ग हैं—समाधि-सम्बोध्यङ्ग, वीर्यसम्बोध्यङ्ग, प्रीतिसम्बोध्यङ्ग, प्रसन्नसम्बोध्यङ्ग धर्मप्रविचयसम्बोध्यङ्ग, स्मृतिसम्बोध्यङ्ग और उपेक्षासम्बोध्यङ्ग। अष्टाङ्ग मार्ग हैं—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यग्वाग्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यगाजीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि।

चार सम्यक्प्रहाण धर्म हैं—अनुत्पन्न कुशल धर्मों का उत्पादन करना, उत्पन्न कुशल धर्मों का संरक्षण करना, उत्पन्न अकुशल धर्मों का प्रहाण और अनुत्पन्न अकुशल धर्मों का अनुत्पादन करना।

हेरुक मण्डल की सैंतीस डाकिनियाँ हैं—चित्तचक्र की प्रचण्डा, चण्डाक्षी, प्रभावती, महानासा, वीरमती, खर्वरी, लंकेश्वरी और द्रुमच्छाया। वाक्चक्र की ऐरावती, महाभैरवा, वायुवेगा, सुराभक्षी, श्यामादेवी, सुभद्रा, हयकर्णा और खगानना। कायचक्र की चक्रवेगा, खण्डरोहा, शौण्डिनी, चक्रवर्मिणी, सुवीरा, महाबला, चक्रवर्तिनी और महावीर्या। दिशाओं में स्थित चार योगिनियाँ—डाकिनी, लामा, खण्डरोहा और रूपिणी हैं तथा मण्डलद्वारों में स्थित चार द्वारपाल काकास्या, उलूकास्या, श्वानास्या और शूकरास्या हैं। मण्डल के कोण दिशाओं में स्थित यमदाढी, यमदूती, यमदंष्ट्री और यममथनी तथा मध्य में भगवान् हेरुकवज्र स्वयं विराजमान हैं।

उपर्युक्त सैंतीस धर्मों को बोधिपाक्षिक धर्म क्यों कहा जाता है? योगिनीसंचारतन्त्र की टीका में इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि ये बोधिप्राप्ति के अनुकूल धर्म हैं, अतः बोधिपाक्षिक धर्म कहे गए हैं (पृ० 19)। वसन्ततिलक टीकाकार वनरत्न कहते हैं “बुद्ध्यन्त्यनया सर्वात्मस्वरूपमिति बोधिः” अर्थात् जिससे सर्वात्मस्वरूप का ज्ञान होता है वह बोधि है या सभी वस्तुओं के स्वरूप अर्थात् सर्वधर्मनिःस्वभावता को जानना ही बोधि है। वसन्ततिलक टीकाकार ने प्रश्न उपस्थित किया है कि क्या यह बोधि एकदेशस्थ अर्थात् प्रादेशिकी है या व्यापक? निराकरण में कहा है श्रावकयानानुयायी या श्रावकगण जो धर्मों को द्रव्यसत् के रूप में स्वीकार कर पुद्गल नैरात्म्य का अधिगम करते हैं वह प्रादेशिकी बोधि है। क्योंकि श्रावक बोधि में पुद्गल स्वयं की मुक्ति चाहता है। अतः स्वार्थ प्रधान होने के कारण इनकी बोधि प्रादेशिकी बोधि कहलाती है। धर्मों के पुद्गल नैरात्म्य और धर्मनैरात्म्य, उभय नैरात्म्य स्वरूप का ज्ञान सम्यक्सम्बोधि है। यही बोधि व्यापक है यह तथागत गर्भ के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। इस सम्यक्सम्बोधि की प्राप्ति के उपाय इसके अंग हैं। अतः यह बोध्यङ्ग कहे जाते हैं। ये बोध्यङ्ग पक्ष (पंख) स्वरूप हैं। इसलिए बोधिपाक्षिक कहलाते हैं। अब प्रश्न है कि इन्हें धर्म अर्थात् बोधिपाक्षिकधर्म क्यों कहा गया? धर्म शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए कहा है—“ध्रियन्ते बोधिसत्त्वैर्मार्गस्थैश्चेतसि व्यवस्थाप्यन्त इति”।

ऊपर जिन वीरेश्वरी एवं डाकिनियों का उल्लेख किया गया है वे सभी हृदयादि स्थानों में नाड़ी रूप में अवस्थित हैं और वे बोधिपाक्षिक स्वभाव वाली भी हैं। जैसे चार स्मृत्युपस्थानों में कायानुस्मृत्युपस्थान डाकिनी, वेदनानुस्मृत्युपस्थान लामा, धर्मानुस्मृत्युपस्थान खण्डरोहा, चित्तानुस्मृत्युपस्थान रूपिणी हैं। चार ऋद्धिपादों में छन्दऋद्धिपाद प्रचण्डा, वीर्यऋद्धिपाद चण्डाक्षी, मीमांसा ऋद्धिपाद प्रभावती तथा चित्तऋद्धिपाद महानासा स्वभाव वाली हैं। पाँच इन्द्रियों में श्रद्धेन्द्रिय वीरमती, वीर्येन्द्रिय खर्वरी, स्मृतीन्द्रिय लङ्केश्वरी, समाधीन्द्रिय द्रुमच्छाया तथा प्रज्ञेन्द्रिय ऐरावती स्वभाव वाली हैं। पाँच बलों में श्रद्धाबल महाभैरवी, वीर्यबल वायुवेगा, स्मृतिबल सुराभक्षी, समाधिबल श्यामादेवी और प्रज्ञाबल सुभद्रा स्वभाव हैं। बोध्यङ्गों में समाधिसम्बोध्यङ्ग हयकर्णा, वीर्यसम्बोध्यङ्ग खगानना, प्रीतिसम्बोध्यङ्ग चक्रवेगा, प्रसन्धिसम्बोध्यङ्ग खण्डरोहा, धर्मप्रविचयसम्बोध्यङ्ग शौण्डिनी, स्मृतिसम्बोध्यङ्ग चक्रवर्मिणी और उपेक्षासम्बोध्यङ्ग सुवीरा स्वभाव वाली हैं। आर्याष्टाङ्गमार्गों में सम्यग्दृष्टि महाबला, सम्यक्संकल्प चक्रवर्तिनी, सम्यग्वाक् महावीर्या, सम्यक्कर्मन्त काकास्या, सम्यगाजीव उलूकास्या, सम्यग्व्यायाम श्वानास्या, सम्यक्स्मृति शूकरास्या और सम्यक्समाधि भगवान् श्री हेरुक स्वरूप हैं। अनुत्पन्न कुशल धर्मों का उत्पादन यमदाढी, उत्पन्न कुशल धर्मों का संरक्षण यमदूती, उत्पन्न अकुशल धर्मों का प्रहाण यमदंष्ट्रिणी और अनुत्पन्न अकुशल धर्मों को उत्पन्न नहीं होने देना यममथनी स्वभाव हैं। संक्षेप में सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्म और शरीरगत नाड़ी रूप में स्थित डाकिनियों की यही स्थिति है।

सम्यक्सम्बोधि की आकांक्षा से साधक इन सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों को पाँच मार्गों में संगृहीत कर भावना करते हैं। ये पाँच मार्ग हैं—संभार मार्ग, प्रयोग मार्ग, दर्शन मार्ग, भावना मार्ग और अशैक्ष मार्ग। सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों में से संभार मार्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित 12 धर्म हैं—चार स्मृत्युपस्थान, चार सम्यक् प्रहाण और चार ऋद्धिपाद। प्रयोग मार्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित दस धर्म हैं—पाँच इन्द्रिय और पाँच बल। दर्शन मार्ग के अन्तर्गत सात बोध्यङ्ग हैं। भावना मार्ग के अन्तर्गत आर्याष्टाङ्गिक मार्ग हैं और अशैक्ष मार्ग के अन्तर्गत मार्गज्ञान का अन्तिम क्षण है।

इन पाँच मार्गों की दृष्टि से ये बोधिपाक्षिक धर्म लौकिक और लोकोत्तर भेद से दो भागों में विभक्त किए जाते हैं। लौकिक मार्ग के अन्तर्गत 22 धर्म तथा लोकोत्तर मार्ग में शेष 15 धर्म संगृहीत हैं। लौकिक मार्ग के 22 धर्म हैं—चार स्मृत्युपस्थान, चार सम्यक्

प्रहाण, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय और पाँच बल तथा लोकोत्तर मार्ग के 15 धर्म हैं—सात बोध्यङ्ग और आठ आर्याष्टाङ्ग मार्ग।

स्मृत्युपस्थान

यद्यपि स्मृत्युपस्थान का स्मृति चैतसिक एक है परन्तु चार प्रकार के आलम्बन, उनके ग्रहण करने के चार आकार एवं प्रहाण कर्म के कारण स्मृत्युपस्थान चार प्रकार के हैं। सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों में यह सर्वप्रथम इसलिए कहे गए हैं, क्योंकि इनसे चार आर्यसत्त्यों का पृथक्-पृथक् अवबोध होता है।

निर्वाण, संसार और वस्तुओं की निःस्वभावता एवं शून्यता को नहीं जानने से चार प्रकार के विपर्यास ज्ञान का उदय होता है। जैसे—नित्य, सुख, शुचि और सात्मक। इसके प्रतिपक्ष में अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म का बोध कराना ही चार स्मृत्युपस्थानों का लक्ष्य है। श्रावकनय एवं पारमितानय के अनुसार भी यही दृष्टि स्वीकृत है। परन्तु मन्त्रनय की विशेषता है कि कायमण्डल में जो स्वसंविद् रूप में डाकिनियाँ हैं उन्हें धर्मता के रूप में अवबोध करना¹। अतः चार स्मृत्युपस्थानों को सर्वप्रथम रखा गया है।

काय जो अशुचिता का पुञ्ज है—ऐसा दर्शन करना या उसे स्मृति में रखना कायानुस्मृत्युपस्थान है। हमारा यह काय निरन्तर प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। इस प्रकार यह एक सन्तति का निर्माण करता है जो पूर्वसन्तति है वह परसन्तति का उत्पाद कर देती है और यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। यह केवल हमारे काय की ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण त्रैधातुक लोक की स्थिति है। अब यदि विचार करें कि यह काय जो स्व-पर सन्तानानुवर्ती है तो क्या यह भिन्न-भिन्न क्षणों में पृथक्-पृथक् है या एक है। अवयवी के सिद्ध नहीं होने से वह एक भी नहीं है क्योंकि अवयवी के असिद्ध होने पर भी राग और अराग आदि दोषों का दर्शन होता है। एकत्व के सिद्ध नहीं होने से अनेकत्व भी असिद्ध है। इसलिए इन दोनों धर्मों से रहित यह काय शून्य है, निःस्वभाव है ऐसी स्मृति चित्त में रखना कायानुस्मृत्युपस्थान है।

1. श्रावकदर्शने तु नित्यसुखशुचिसात्मकचतुर्विपर्यासप्रतिपक्षानित्याशुचिदुःखानात्मलक्षणानि चत्वारि स्मृत्युपस्थानानीति विशेषः। मन्त्रदर्शने तु स्वसंविद्रूपा डाकिन्यः कायादीनां धर्मतारूपा ज्ञेयाः।

इस प्रकार वेदना भी तीन प्रकार की होती है। सुखा वेदना, दुःखा वेदना और असुखा-अदुःखा वेदना। यह पुनः कायाश्रित चक्षु आदि छह विज्ञानों के आधार पर अष्टारह प्रकार की होती हैं। परन्तु यह सुखादि वेदना भी अतीतादि काल के भेद से असिद्ध है, असत् है ऐसा अपने चित्त में स्थापित करना वेदानुस्मृत्युपस्थान है। वेदना के स्वरूप, कार्य और कारण तथा उसकी अनित्यता पर विचार करें तो दुःख समुदय सत्य का ज्ञान होता है।

इस प्रकार जो ज्ञेय चित्त है उसका पूर्वचित्त अपरचित्त या युगपत् रूप में होना सम्भव नहीं है। अतः शून्य है, अनित्य है ऐसा चित्त में स्मृति स्थापित करना चित्तानुस्मृत्युपस्थान है।

कुशल अकुशल और अव्याकृत आदि विभिन्न धर्मों को पूर्व की तरह शून्य, अनित्य एवं निःस्वभाव जानना धर्मानुस्मृत्युपस्थान है।

ऋद्धिपाद

ऋद्धि का अर्थ है वृद्धि होना या उत्पन्न होना अर्थात् बल वैशारद्य आदि जो बुद्धिगुण हैं, उनका वृद्धि या उत्पन्न होना। दूसरे शब्दों में जिससे सम्यक्सम्बोधि की प्राप्ति होती हो। पाद की यहाँ उपाय के रूप में व्याख्या की जाती है। इसीलिए इन्हें ऋद्धिपाद कहा गया है। ये ऋद्धिपाद समाधिदोष के प्रतिपक्ष हैं। कौसीद्य आदि समाधि के छह दोष हैं। इनका आठ प्रहाण-संस्कारों द्वारा प्रहाण किया जाता है। ये प्रत्येक ऋद्धिपाद पुनः विवेकनिश्रित, विरागनिश्रित, निरोधनिश्रित, व्यवसर्गपरिणत और संस्कृतवस्तु वियोग की दृष्टि से बीस प्रकार के हो जाते हैं।

इन्द्रिय

इन्द्रियाँ पाँच हैं। प्रयोग मार्ग में चार निर्वेधभागीय धर्म हैं—ऊष्मगत, मूर्धगत, क्षान्तिगत और लौकिक अग्रधर्म। निरास्रव समाधियों को आमुखी या प्रत्यक्ष करते समय बोधिसत्त्व अग्नि की तरह पूर्व लिंगों से ऊष्मा का प्रादुर्भाव करता है। चित्त में ज्ञानाग्नि के उद्भूत होने से उसे ऊष्मगत कहा गया है। वही ऊष्मगत अध्याशय सहित प्रकर्षावस्था मूर्धा चित्त है। उसी चित्त में सहने की शक्ति क्षान्ति है। क्षान्ति के बाद निर्गत धर्म लौकिकाग्र धर्म हैं। भाव्यमान लोकोत्तर मार्ग एवं रत्नत्रय के प्रति श्रद्धा होना श्रद्धेन्द्रिय है। श्रद्धा से

उत्पन्न कुशल धर्मों के प्रति उत्साह होना वीर्येन्द्रिय है। वीर्य इन्द्रिय भी चार प्रकार की हैं—आरम्भवीर्य, परिक्रमवीर्य, प्रत्यवेक्षावीर्य और प्रतिपत्तिवीर्य। वीर्येन्द्रिय से उत्पन्न कुशल धर्मों में पुनः विस्मृति न होना स्मृतीन्द्रिय है। स्मृतीन्द्रिय द्वारा उत्पन्न धर्मों को चित्त में निरन्तर स्थापित करना समाधीन्द्रिय है और समाधीन्द्रिय द्वारा उत्पन्न धर्मों की प्रत्यवेक्षा करने वाला प्रज्ञेन्द्रिय है।

पाँच बल

श्रद्धादि पाँच प्रकार के बल हैं। इन्द्रियाँ भी श्रद्धादि के कारण पाँच प्रकार की हैं फिर इन्हें अलग-अलग क्यों कहा गया है। वस्तुतः श्रद्धादि इन्द्रियाँ बलवती होने से इन्हें श्रद्धाबल इत्यादि कहा गया है। अश्रद्धा, कौसीद्य, विस्मृति, विक्षेप आदि समाधि के प्रतिपक्षों को श्रद्धा आदि बलों से दूर किया जाता है।

बोध्यङ्ग

बोध्यङ्ग सात हैं। दर्शन मार्ग में यही अंग सम्बोधि हैं। सम्बोधि का तात्पर्य है निरावरण ज्ञान। जिसके दर्शन से चित्त समाधिस्थ होता है, वही समाधि सम्बोध्यङ्ग है। समाधि में उत्साह का होना वीर्यसम्बोध्यङ्ग है। जिससे चित्त निःसंशय होता है, वह प्रीति सम्बोध्यङ्ग है। उसी प्रीति से काय-वाक्-चित्त में कर्मण्यता आती है और क्लेशादि के प्रहाण से शान्त और शीतल होता है, वही प्रसन्नबुधिसम्बोध्यङ्ग है। सम्यक् स्वभाव का अर्थात् यथाभूत का परिज्ञान धर्मप्रविचय सम्बोध्यङ्ग है। समाधि में आसक्ति एवं अभिनिवेश का न होना उपेक्षा सम्बोध्यङ्ग है।

अष्टाङ्ग मार्ग

दर्शन मार्ग में क्लेशावरण का प्रहाण करने के पश्चात् भावना मार्ग में ज्ञेयावरण का प्रहाण किया जाता है। ज्ञेयावरण के प्रहाण में सम्यग्दृष्टि आदि अष्टाङ्गिक मार्ग मुख्य हैं। भावना मार्ग में निःस्वभावात्मक धीः और परलोक आदि का अस्तित्व स्वीकार करने वाली धीः ही सम्यग्दृष्टि है। इस प्रकार की जो दृष्टि है, वह नैरात्म्य अवलम्बित है, वही सम्यक् सङ्कल्प है। स्वदृष्ट का सत्त्वों को देशना करना सम्यग्वाक् है। ऋद्धि आदि से दूसरों को विनीत करने के लिए ताडित करना सम्यक्कर्मान्त है। ध्यान का आहार चीवरादि का अन्वेषण सम्यगाजीव है। सभी ईर्या पथों में अपने काय-वाक्-चित्त का नियोजन करना

सम्यग्व्यायाम है। भावना मार्ग में आलम्बन को न भूलना सम्यक् स्मृति है। स्मृति में एकाग्रता और वज्र की तरह दृढ़ एवं निश्चल होना सम्यक् समाधि है।

सम्यक् प्रहाण

उत्पन्न अकुशल धर्मों का प्रहाण, अनुत्पन्न अकुशल धर्मों का अनुत्पाद, अनुत्पन्न कुशल धर्मों का उत्पाद और उत्पन्न कुशल धर्मों का संरक्षण ये चार सम्यक् प्रहाण कहलाते हैं।

उपर्युक्त स्मृत्युपस्थान, ऋद्धिपाद, इन्द्रिय, बल, बोध्यङ्ग, मार्गांग और सम्यक् प्रहाण में प्रत्येक का चार प्रकार के अर्थों द्वारा भी निश्चय किया गया है। ये हैं—1. भावना का प्रयोजन, 2. स्वरूप, 3. मार्ग एवं पुद्गल की दृष्टि से भेद और 4. श्रावकनय से विशिष्टता। यहाँ विस्तारभय से प्रत्येक का पृथक्-पृथक् उपर्युक्त दृष्टि से उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

डाकिनी आदि वीरेश्वरियों का स्वरूप, मण्डल में स्थान, देह में उनकी अवस्थिति इत्यादि का विस्तृत विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है¹। अतः उनके स्वरूप का उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

देवता-योग

देहस्थ मण्डल में ये स्मृत्युपस्थान डाकिनी, लामा, खण्डरोहा एवं रूपिणी स्वभाव में नाड़ी रूप में अवस्थित हैं। इनको देवतायोग में किस प्रकार जोड़कर साधना की जाती है, उसका किंचित् स्वरूप योगिनीसंचार तन्त्र की व्याख्या में उपलब्ध होता है। सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों का मण्डलस्थ सैंतीस योगिनियों के साथ योग का स्वरूप निम्नलिखित प्रकार से है—

1. डाकिनी कायानुस्मृति स्वरूप है। काय आकाश स्वरूप शून्य लक्षणात्मक है। इस शून्य आकाश में विचरण करने वाली डाकिनी है। इस पञ्चभूत भौतिक स्वरूप काय में अनुपलम्भ रूप में स्मृति को उपस्थापित करना स्मृत्युपस्थान है। यह डाकिनी ज्ञानचक्र के पूर्व पत्र पर अवस्थित है तथा कृष्ण वर्ण की है। यह एक वक्त्र और द्विभुज वाली है।

1. द्रो—“बौद्ध तन्त्रों में पीठोपपीठादि का विवेचन” धी: अंक 10, 11

2. लामा वेदनानुस्मृत्युपस्थान स्वरूप है। वेदना तीन प्रकार की होती हैं—सुख, दुःख, असुखादुःख वेदना। इन वेदनाओं को पूर्ववत् स्मृति में उपस्थापित करना वेदनानुस्मृति है और इसे शून्यता में लीन करना या रमाना लामा है। यह पीत वर्ण की है।
3. खण्डरोहा धर्मानुस्मृत्युपस्थान स्वरूप है। कुशल एवं अकुशल धर्मों को स्मृति में उपस्थापित कर उन्हें शून्यता की ओर अभिमुख कर खण्ड अर्थात् सिर पर स्थापित करना खण्डरोहा है। यह रक्तवर्ण की है।
4. रूपिणी चित्तानुस्मृत्युपस्थान स्वरूप है। चित्त को भी उसी प्रकार स्मृति में उपस्थापित कर उसे शून्यता के रूप में निरूपित करना रूपिणी है। यह श्याम वर्ण की है। उपर्युक्त चारों ज्ञानचक्र के चारों दिशाओं में विराजमान हैं।
5. प्रचण्डा छन्दऋद्धिपाद स्वरूप है। समाधि का एक दोष (विपक्ष) कौसीद्य है। इसे छन्द, श्रद्धा, प्रसन्नबुद्धि आदि से युक्त होकर ज्ञानाग्नि द्वारा हटाया जाता है। इस विपक्ष के उन्मूलन करने में प्रकृष्ट एवं चण्ड होने के कारण, इसे प्रचण्डा कहा गया है। यह चित्तचक्र के पूर्व अर में अवस्थित है तथा कृष्ण वर्ण की है।
6. चण्डाक्षी वीर्यऋद्धिपाद स्वरूप है। आलम्बन सम्प्रमोष भी समाधि का विपक्ष है। इसका स्मृति द्वारा प्रहाण किया जाता है। स्मृति द्वारा प्रहाण करने के क्रम में तन्त्रौलि के समय विकसित चण्ड एकाक्ष वाली होने से यह चण्डाक्षी है। यह चित्तचक्र की उत्तर दिशा में अवस्थित है।
7. प्रभावती मीमांसा ऋद्धिपाद स्वरूप है। समाधि दोष लय और औद्धत्य का प्रहाण सम्प्रजन्य द्वारा होता है। सम्प्रजन्य के द्वारा प्रहाण के समान ज्ञानाग्नि एवं प्रभा वाली होने से यह प्रभावती है।
8. महानासा चित्त-ऋद्धिपाद स्वरूप है। अयत्न और यत्न को चेतना और उपेक्षा द्वारा प्रहाण किया जाता है। चेतना और उपेक्षा द्वारा उपर्युक्त समाधि दोष को प्रहाण करने और चित्त को समाधिस्थ करने में सक्षम महानासा है। यह चित्तचक्र के दक्षिण में स्थित है।

9. वीरमति श्रद्धेन्द्रिय स्वरूप है। मोक्ष भागीय कुशलमूल के छन्द द्वारा विकल्पों का निवारण होता है। इस छन्द के आधिपत्य से ऊष्मा में आकार स्वरूप वीर गुह्य विकल्पों का प्रहाण करने की जो मति होती है, वह वीरमति है। यह चित्तचक्र के आग्नेय कोण में अवस्थित है।
10. खर्वरी वीर्येन्द्रिय स्वरूप है। मोक्ष भागीय कुशल धर्मों के प्रयोग में आधिपत्य रखता है। प्रयोग में दृढ़ता के कारण तन्त्रौलि काल में वर देने में चपल एवं सामर्थ्यवान् होने से यह खर्वरी कहलाती है। यह चित्तचक्र के नैऋत्य कोण में अवस्थित है।
11. लंकेश्वरी स्मृतीन्द्रिय स्वरूप है। स्मृतीन्द्रिय आलम्बन सम्प्रमोष में आधिपत्य की तरह लंका अर्थात् देह एवं चित्त की स्वामिनी होने और उसे धारण करने वाली होने से लंकेश्वरी है।
12. द्रुमच्छाया समाधीन्द्रिय स्वरूप है। क्लेश रूपी अग्नि के दाह को समाधि बल से हटाकर ज्ञानौलि काल में वृक्ष की छाया की भाँति शीतलता प्रदान करने वाली होने से द्रुमच्छाया है। यह चित्तचक्र के ईशान कोण पर स्थित है।

उपर्युक्त प्रकरण में चित्तचक्र के देवताओं के साथ बोधिपाक्षिक धर्मों का संयोजन बतलाया गया है।

13. ऐरावती प्रज्ञेन्द्रिय स्वरूप है। धर्मप्रविचय में आधिपत्य होने के कारण सभी कुशलाकुशल धर्मों का विचार कर ऐरावती नदी की तरह ज्ञानौली के समय वेग पूर्वक बहने से ऐरावती है। यह वाक्-चक्र की पूर्वी द्वार पर स्थित है।
14. महाभैरवा श्रद्धाबल स्वरूप है। समाधि का दोष अश्रद्धा को हटाने के लिए तन्त्रौलि काल में विकल्प वायु का निराकरण करने वाली जो महान एवं भयंकर रूप वाली है, वह महाभैरवा है। यह वाक्-चक्र की उत्तर दिशा में स्थित है।
15. वायुवेगा वीर्यबल स्वरूप है। कौशीद्य के निराकरण के लिए विकल्पवायु के प्रहाण में वायु के समान वेगवान् होने के कारण यह वायुवेगा है। यह वाक्चक्र की पश्चिम दिशा में स्थित है।

16. सुराभक्षी स्मृतिबल स्वरूप है। समाधि का विपक्ष विस्मृति के निवारण की तरह विकल्प का नाश करने में बोधिचित्त रूपी सुरा का भक्षण करने वाली यह सुराभक्षी है। यह वाक्चक्र की दक्षिण दिशा में अवस्थित है।
17. श्यामादेवी समाधि बल स्वरूप है। समाधि का विपक्ष विक्षेप के निवारण के लिए तन्त्रौलि काल में विकल्प के प्रहाण में बल प्राप्त होने से यह श्यामा देवी है। यह वाक्चक्र के आग्नेय कोण में अवस्थित है।
18. सुभद्रा प्रज्ञाबल स्वरूप है। समाधि का विपक्ष या दोष दौष्ट्य के निवारण करने से यह शोभन एवं भद्र है। अतः यह सुभद्रा है। यह वाक्चक्र के नैऋत्य कोण में अवस्थित है।
19. हयकर्णा समाधिसम्बोध्यङ्ग स्वरूप है। समाधिसम्बोध्यङ्ग गगनगङ्गादि समाधि का आश्रय है। स्व-पर सन्तान में समाधि उत्पन्न करने के लिए आश्रय के समान होने एवं अश्व की तरह दक्षिण कर्ण से निर्गमन करने से यह हयकर्णा कहलाती है। यह वाक्चक्र के वायव्य कोण में अवस्थित है।
20. खगानना वीर्यसम्बोध्यङ्ग स्वरूप है। वीर्यसम्बोध्यङ्ग क्लेश प्रहाण का उपाय होने और देहस्थ मण्डल में खगमुखाकार नाड़ी रूप में होने से यह खगानना है। यह वाक्चक्र के ईशान कोण में स्थित है।

उपर्युक्त प्रकरण में वाक्चक्र में स्थित वीरेश्वरियों के साथ बोधिपाक्षिक धर्मों का संयोजन दिखलाया गया है।

21. चक्रवेगा प्रीतिसम्बोध्यङ्ग स्वरूप है। धर्मधातु के अवबोध के समय चित्त का जो सौमनस्य है उसका ज्ञानौलि और तन्त्रौलि के समय जो अनुभव है, उसके गमनागमन का जो वेग है वह चक्रवेगा है। यह कायचक्र की पूर्वदिशा में अवस्थित है तथा श्वेत वर्ण की है।
22. खण्डरोहा प्रसन्नसिद्धि सम्बोध्यङ्ग स्वरूप है। धर्मधातु के अवबोध से काय में जो सौमनस्य का अनुभव होता है, उस सौमनस्य का शिर में आरोहण करने वाली खण्डरोहा है। यह कायचक्र की उत्तर दिशा में अवस्थित है।

23. शौण्डिनी धर्मप्रविचय सम्बोध्यङ्ग स्वरूप है। धर्मधातु के अभेद से सभी धर्मों का प्रविचय करने और उन धर्मों के रस से मत्त होने से यह शौण्डिनी है। यह कायचक्र की पश्चिम दिशा में अवस्थित है।
24. चक्रवर्मिणी स्मृतिसम्बोध्यङ्ग स्वरूप है। स्मृति के द्वारा धर्मधातु समाधि में अविक्षेप रूपी कवच से स्थिर होने और उसी तरह की धर्मकवच के चक्र वाली चक्रवर्मिणी है। यह कायचक्र की दक्षिण दिशा में अवस्थित है।
25. सुवीरा उपेक्षा सम्बोध्यङ्ग स्वरूप है। निर्विकल्पक ज्ञान में आश्रित होकर गुण एवं दोषों के हेय एवं उपादेय भाव की तरह सुन्दर तथा वीर होने और आद्यनुत्पन्न धर्मता सूचक आकार की तरह होने से यह सुवीरा है। यह कायचक्र के आग्नेय कोण में अवस्थित है।
26. महाबला सम्यग्दृष्टि स्वरूप है। दर्शनमार्ग का अधिगम करने पर निराभास तत्त्व की भावना करने में जो महद् बलशाली है, वह महाबला है। यह कायचक्र के नैऋत्य कोण में अवस्थित है।
27. चक्रवर्तिनी सम्यक् सङ्कल्प स्वरूप है। दर्शनमार्ग के तत्त्वावबोध में व्यवस्थित होने और तन्त्रौलि के अवसर पर चक्रों में रहने से यह चक्रवर्तिनी है। यह कायचक्र के वायव्यकोण में व्यवस्थित है।
28. महावीर्या सम्यग्वाक् स्वरूप है। पराभिभव काल में स्व-पर का विकल्प प्रहाण करने में महान् वीर्य या उत्साह से युक्त होने से यह महावीर्या है। यह कायचक्र के ईशान कोण में व्यवस्थित है।

उपर्युक्त योगिनियाँ कायचक्र में बोधिपाक्षिक धर्मों से संयोजित हैं। समयचक्र के अन्तर्गत देवताओं का नियोजन इस प्रकार है—

29. काकास्या सम्यक्कर्म स्वरूप है। पञ्चाकाराभिसम्बोधि द्वारा कुलों की विशुद्धि और समस्त कायिक अकृत्यों के निवारण रूप होने से यह काकास्या है। यह समयचक्र के पूर्वद्वार में अवस्थित है।
30. उलूकास्या सम्यगाजीव स्वरूप है। दंभ और मिथ्याभिमानों को त्यागने और पूर्व की भाँति कुल के विशोधन करने से उलूकास्या है। यह उत्तर द्वार में स्थित है।

31. श्वानास्या सम्यग्व्यायाम स्वरूप है। सम्यग्व्यायाम द्वारा साधना में हेय क्लेशों के निवारण और रागादि उपद्रवों को हटाने के कारण श्वानास्या है। यह समयचक्र के पश्चिम द्वार में अवस्थित है।
32. शूकरास्या सम्यक्स्मृति स्वरूप है। स्मृति के द्वारा उपक्लेशों लय और औद्धत्य का निवारण करने और शूकर की तरह ईर्या के प्रभाव से क्लेश निवारण करने पर यह शूकरास्या कहलाती है। यह समयचक्र के दक्षिण द्वार पर अवस्थित है।
33. हेरुक भगवान् सम्यक् समाधि स्वरूप हैं। सम्यक् समाधि में भगवान् स्वयं अवस्थित हैं।

प्रहाण धर्मों के साथ डाकिनियों का नियोजन निम्नलिखित प्रकार से है—

34. यमदाढी अनुत्पन्न कुशल धर्मों का उत्पादन स्वरूप है। पाँच प्रकार के वीर्यों को अवलम्बित कर उसमें अवैवर्तिक रूप से रहना और इसमें यम की तरह दृढ़ होने से यमदाढी है।
35. यमदूती उत्पन्न कुशल धर्मों के संरक्षण स्वरूप है। यमदाढी की तरह दृढ़ होने और कुशल धर्मों के संरक्षण में अवैवर्तिक रूप में स्थित होने से यह यमदूती है।
36. यमदंष्ट्री उत्पन्न अकुशल धर्मों का प्रहाण स्वरूप है। पारमिता के विपक्षी धर्मों के प्रहाण में यम के दाँत की तरह तीक्ष्ण होने से यह यमदंष्ट्री है।
37. यममथनी अनुत्पन्न अकुशल धर्मों का अनुत्पादन स्वरूप है। अनुत्पन्न अकुशल धर्मों के अनुत्पादन में यम की तरह उन्हें मथने वाली होने से यह यममथनी है। उपर्युक्त चारों डाकिनियाँ समयचक्र के चार कोणों पर अवस्थित हैं।

इस प्रकार संक्षेप में यहाँ बोधिपाक्षिक धर्मों के साथ देवताओं (डाकिनियों-वीरेश्वरियों) का योग दर्शाया गया है।

तन्त्र की सामान्य एवं संक्षिप्त व्यवस्था (3)

—छेरिंग डोलकर—

[धीः के पूर्व अंकों में आचार्य बुस्तोन द्वारा रचित “सामान्य एवं संक्षिप्त तन्त्रोपन्यास रत्ननिधि द्वारोद्घाटक कुञ्जी” नामक ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद दिया गया है, उसी सातत्य में इस अंक में “तन्त्र के भेद” सम्बन्धी परिच्छेद का क्रमशः हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है।]

2. प्रत्येक तन्त्र की विशेषता

इसके पाँच भेद हैं—(क) साधक पुद्गल भेद, (ख) विपाक करने वाला अभिषेक, (ग) मार्गाभिसमय, (घ) पालनीय समय और (ङ) तन्त्रों की स्वाभाविक स्थिति।

(क) साधक पुद्गल भेद

अत्यधिक बाह्य कर्मों पर अधिमुक्ति रखने वाले विनेय जनों के लिए क्रियातन्त्र, अल्प क्रियाओं में अभिरुचि एवं तत्त्व के प्रति अधिमुक्ति रखने वालों के लिए चर्यातन्त्र, क्रियाओं के अभाव में विक्षेप को जानकर तत्त्व की भावना में ही अधिमुक्ति रखने वालों के लिए योगतन्त्र तथा अद्वयज्ञान के तत्त्व के प्रति अधिमुक्ति रखने वालों के लिए अनुत्तर तन्त्र है। नयत्रयप्रदीप (तो० 3707) में कहा है—

“जिनका अन्य जन्मों की वासना के कारण विविक्त प्रदेश (अरण्य) में निवास, स्नान, मण्डल लेखन, पूजा, होम, तपस्या और जप आदि क्रियाओं के बिना चित्त समाहित नहीं होता उनके लिए क्रियातन्त्र का निर्देश हुआ है। जिनका चित्त तत्त्व में अभिनिवेश होने पर भी श्रद्धा के बल से सुगत (बुद्ध) द्वारा उपदिष्ट क्रियाओं द्वारा ज्ञानाधिगम कर लेने के कारण क्रिया सापेक्ष होने से उनके लिए अत्यल्प क्रियाओं वाला मूलतन्त्र कहा गया है। अन्य लोग जो विविध क्रियाओं में विक्षेप को जानकर अद्वय तत्त्व की भावना में ही अधिमुक्ति रखने वाले हैं, उन्हें मुख्य रूप से योग और प्रसंगवश कुछ क्रियाओं का भी निर्देश करने वाला चर्यातन्त्र कहा गया है। जो उसी कुल के अन्तर्गत अन्य जन्मों के अभ्यास के बल से सभी क्रियाओं में सभी वस्तुओं की दो संज्ञाओं (विषय एवं विषयी)

द्वारा प्रवेश (न) करने वाले महात्माओं के लिए निश्चित क्रिया न बतला कर सभी क्रिया एवं चर्याओं में भी अप्रतिषिद्ध सर्वतन्त्रों के उत्तरभूत महायोगतन्त्र को भगवान् बुद्ध ने कहा है।”

यहाँ इस आचार्य के मत में मूलतन्त्र का तात्पर्य अन्य मतों के चर्यातन्त्र से तथा चर्यातन्त्र का तात्पर्य (अन्य मतों के) योगतन्त्र से है।

(ख) विपाक करने वाला अभिषेक भेद

ज्ञानतिलक (तो० 422) में कहा है—“उदकाभिषेक और मुकुटाभिषेक क्रियातन्त्र में प्रसिद्ध है। वज्रघण्टा तथा नामाभिषेक चर्यातन्त्र में और अवैवर्तिक अभिषेक को योगतन्त्र में स्पष्ट किया गया है। विशिष्ट छठा अभिषेक आचार्याभिषेक है। अनुत्तरयोग में गुह्य अभिषेक राज एवं प्रज्ञाज्ञानाभिषेक है और चतुर्थाभिषेक को तत्पुनस्तथा कहा है”। इसका भावार्थ इस प्रकार है—(I) अभिषेक के प्रमुख भेद और (II) दूसरा इससे सम्बद्ध विवादों का निराकरण।

(I) **अभिषेक के प्रमुख भेद**—क्रियातन्त्र में उदकाभिषेक का स्पष्ट रूप से निर्देश मिलता है। मुकुटाभिषेक का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है फिर भी मुद्रा बन्धन कर मूर्धा में स्पर्श करना ही मुकुटाभिषेक होना चाहिये। जैसे **सामान्यगुह्यतन्त्र** (तो० 806) में कहा है—“तत्पश्चात् मुद्रा बन्धन कर गुह्यमन्त्र बुद्धि से मूर्धा का स्पर्श करे”। योगतन्त्र की युक्ति प्रयोग करें तो मुद्रा द्वारा अभिषेक का वर्णन करना ही मुकुटाभिषेक को दर्शाता है। **तत्त्वसंग्रह** (तो० 479) में कहा है—“तत्पश्चात् मुद्रा या माला किसी से भी बाँध कर”, इस शब्द से सभी कुलों के अभिषेकों का निर्देश किया है ऐसा टीका में विवृत है।

मुद्रा द्वारा अभिषेक देना **सामान्यतन्त्र** (तो० 806) में भी उल्लिखित है, अतः इसके द्वारा मुकुटाभिषेक को ही दर्शाया होगा ऐसा प्रतीत होता है। परन्तु टीकाओं को देखे बिना इसका अर्थ निर्धारण करना कठिन है। **विदारण**, **उष्णीष**, और **वज्रपाणि** आदि के मण्डल विधियों में किसी ने उदकाभिषेक मात्र का और किसी ने योगतन्त्र के अनुसार अवैवर्तिक अभिषेक के पूर्वार्ध के अभिषेक (का भी उल्लेख) किया है। अतः निश्चित रूप से स्पष्ट नहीं है।

चर्यातन्त्र **वैरोचनाभिसम्बोधि** (तो० 494) में कहा है—“उदकाभिषेक, सुवा, आदर्श और धर्मप्रवचन अनुज्ञा मात्र के अतिरिक्त नहीं कहा है”। इसकी टीका में भी

सम्यक् आभूषणादि अभिषेक का स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है। वज्रपाण्यभिषेकतन्त्र (तो० 496) में पाँच अभिषेकों का निर्देश है। पूर्ववृत्तों में तथागत रश्मि वज्रपाणि के मूर्धा में अस्त (लीन) होना उदकाभिषेक है, महावज्र विपुल हृदय कहने से समस्त बुद्ध परिवार (परिषद्) का मुकुटधारी वज्रपाणि के रूप में आभासित होना मुकुटाभिषेक है। अनाहत वज्रहृदय (गर्भ) से वज्र हाथ में देना वज्रघण्टाभिषेक है। उसी समय सपर्षद् बुद्ध द्वारा वज्रपाणि वज्रपाणि कहना नामाभिषेक है। मण्डलानुप्रवेश विधि के समय चार प्रकार के रत्नों के कलशादि से उदकाभिषेक, दायें हाथ में वज्र और बायें हाथ में चक्र रखने से हस्त आयुधाभिषेक, शिष्य के वज्रधर्म का उच्चारण करने से नामाभिषेक आदि अनुज्ञा के रूप में ही कहा होगा ऐसा समझा जाता है। इस पर (मण्डलानुप्रवेशविधि पर) पूर्व में अनूदित (कोई) टीका (यदि) प्राप्त हो तो परीक्षण करना चाहिए।

योगतन्त्र तत्त्वसंग्रह (तो० 479) में केवल शिष्य अभिषेक का उल्लेख होने पर भी (योगतन्त्र के) व्याख्यातन्त्र में आचार्य अभिषेक का विस्तार से उल्लेख हुआ है। अतः शिष्यों को जिस कलश या विजय (कलश) पर स्व-पुष्प गिरे उससे उदकाभिषेक, तथागत (कुल) और बाह्य वज्रकुल को वज्ररत्न मुकुट, तथागत कुल को पञ्चबुद्ध मुकुट, वज्रकुल को पञ्च बुद्ध और वज्रमाला का मुकुट, पद्मकुल को अमिताभ और पद्ममाला का मुकुट, रत्नकुल को रत्नाङ्कुर मुकुट और कर्मकुल को विश्ववज्र की माला का मुकुटाभिषेक देना चाहिए। तथागत पर पुष्प गिरे तो तथागत वज्र और उसी की यष्टि बनाकर घण्टा, तथागत कुलादि पर क्रमशः आद्यवज्र, क्रोधवज्र, वज्रपद्म, वज्ररत्न, विश्ववज्र और बाह्य वज्रकुल को लौकिक (अभिषेक) [लोहे से बना पञ्चशूक उच्छ्रित शृंग त्रिशूल] तथा इनकी यष्टि बनाकर घण्टाभिषेक और अपने-अपने अनुरूप नामाभिषेक होता है। आचार्याभिषेक में जिस पर भी पुष्प पतित हो अपने-अपने को चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न कर शरीर में देवत्व सिद्ध कर लेता है। सभी कलश और विजय (कलश) द्वारा उदकाभिषेक, वह चक्रवर्ती जिस कुल का भी हो उसी (कुल) का मुकुट, चिह्न मुद्रा और नामाभिषेक सभी का पूर्णरूपेण अभिषेक प्रदान कर गुह्य मार्ग से मण्डल में प्रविष्ट देखकर (उसे) मण्डलतत्त्व, देवतत्त्व, आचार्यकर्म में शिष्य का गुह्य अभिषेक और व्याकरण (भविष्यवाणी) आदि का विस्तार से अभिषेक होता है।

अनुत्तरयोगतन्त्र में उपर्युक्त ग्यारह अभिषेकों का प्रतिरूप (समान) कलशाभिषेक है। आचार्य (स्वरूप) माता-पिता की युगनद्ध समापत्ति से उत्पन्न रक्त एवं श्वेत बिन्दु का

प्रदान करना गुह्याभिषेक, प्रज्ञा के साथ समापत्ति सुख की संवेदना प्रज्ञाज्ञानाभिषेक और महामुद्रा से उत्पन्न अक्षर महासुख और शून्यता का युगनद्ध प्रवेश होना चतुर्थ अभिषेक है।

(II) **विवादों का निराकरण**—किसी का कहना है “आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान ने कहा है कि पूर्वापर तन्त्रों में उत्पत्ति एवं निष्पन्नक्रम के अर्थों की भावना करने, श्रवण करने और व्याख्या करने के लिए प्रणिधि और प्रस्थान (बोधि) चित्तोत्पाद का होना पर्याप्त है, (इसके लिए) अभिषेक प्राप्त करना अनिवार्य नहीं”। ऐसा कहना अतिशय (दीपङ्कर श्रीज्ञान) को दोष देना है। इस (विषय) का अतिशय ने विशेष रूप से खण्डन किया है। जैसे **बोधिपथप्रदीप** (तो० 3948) की टीका में कहा है—“यदि क्रिया तन्त्रादि (का साधक) गुह्य मन्त्रयान की चर्या करना चाहे तो आचार्याभिषेक नामक कलशाभिषेक प्राप्त न करने पर मात्र प्रणिधि और प्रस्थान चित्तोत्पाद की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये (क्योंकि ऐसा होने पर) गुह्यमन्त्र का ग्रहण स्वयं द्वारा ही माना जायेगा।” इस प्रकार कारण सहित इसे स्पष्ट किया है।

पुनः प्रव्रजित (भिक्षु) अनुत्तरयोगतन्त्र का उत्तराभिषेक ग्रहण करता है तो उसे पाराजिक (दोष) लगेगा। (अतः) वह (इस) अभिषेक को नहीं ले सकता। **बोधिपथ-प्रदीप** (तो० 3947) में कहा है—“ब्रह्मचारी को गुह्य और प्रज्ञाज्ञानाभिषेक नहीं लेना चाहिए”। दीपङ्कर श्रीज्ञान के गुरु यवद्वीप द्वारा रचित **सेकनिर्देश** (तो० 2252) में कहा है—“(इन) दोनों अभिषेकों से ब्रह्मचर्य का क्षय होता है। (यदि) ब्रह्मचर्य का क्षय हो तो बुद्ध शासन अस्त हो जायेगा और इसके अस्त होने से पुण्य संचय का स्रोत छिन्न हो जायेगा। इससे अप्रमित अकुशलों का उद्भव होगा। अतः ब्रह्मचारियों को इन दोनों अभिषेकों का त्याग करना चाहिए”। इस प्रकार कहें तो उनका दोष नहीं है, क्योंकि उन गुरुओं का अभिप्राय तो तृतीय अभिषेक में कर्ममुद्रा साक्षात् प्रदान करना और द्वितीय अभिषेक को भी उसका हेतुभूत समझकर मौलिक अभिषेक का निषेध करना है। विभिन्न गुरुओं के अनुसार पुद्गल के भेद से मौलिक अभिषेक में भेद होने पर भी निर्दोष अवस्था में प्रव्रजितों को (ये अभिषेक) दिए जा सकते हैं। उसी (यवद्वीप) ने कहा है—“किसी ब्रह्मचारी को महामण्डल में प्रवेश करते समय प्रसेन (प्रतिसेन) का आवेश और विशिष्ट व्याकरण प्राप्त होने पर भी उन अभिषेकों का निषेध नहीं किया गया है।” अतीश (दीपङ्कर श्रीज्ञान) ने भी कहा है—“तत्त्वज्ञानी को दोष नहीं है”। फिर भी कुछ विशिष्ट पुद्गलों के लिए दोष न होने पर भी उन पर आरोप (दोष) लगाकर बुद्धशासन पर होने वाले बड़े

विघ्नों को रोकने के लिए प्रव्रजितों (भिक्षुओं) को मौलिक अभिषेक लेना निषिद्ध किया है। (यहाँ) शब्दतः ग्रहण करने का निषेध नहीं है। विमलप्रभा में कहा है—“प्रज्ञाभिषेको जिनपतिवचनैर्नष्टबीजस्य वृद्धस्य देयो यथा भिक्षोः तथा प्रज्ञायामपि यथा भिक्षुण्यः¹” (बीजहीन वृद्ध को जिनपति के वचनों से प्रज्ञाभिषेक देना चाहिये। जैसे भिक्षु को देते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा को भी देना चाहिये जैसे भिक्षुणी को (देते हैं)।

आचार्य यवद्वीप ने भी कहा है—“जो तीव्रराग वाले को भी अभिषिक्त करते हैं, वे सभी मन के द्वारा किये जाने वाले विधि से सम्पन्न करते हैं”। और भी कहा है—“यदि (कोई कहे) शब्द मात्र से अभिषिक्त करना भी निष्प्रयोजन है क्योंकि मात्र कलशाभिषेक प्राप्त होने से ही मन्त्र(यान) का मार्ग सिद्ध हो सकता है”। जैसे (बोधि)पथप्रदीप में कहा है—“सभी तन्त्रों का श्रवण और व्याख्यान, होम और याग आदि करने वाले को आचार्याभिषेक प्राप्त होता है”। (आचार्य) यवद्वीप ने भी कहा है—“वह तो उत्पत्तिक्रम, होम, प्रतिष्ठा आदि कलशाभिषेक से सम्बद्ध मार्गों से सिद्ध हो सकता है, ऐसा माना है। उत्तर (लोकोत्तर) अभिषेक से सम्बद्ध निष्पन्नक्रम की भावना में उत्तर अभिषेक न मिले तो (भावना) नहीं की जा सकती है। बुद्धकपालतन्त्र (तो० 424) में भी कहा है—“जैसे पुत्रविहीन गृहस्थ के मरने पर (वंश का) नाश हो जाता है, उसी प्रकार अभिषेक से विहीन (साधक), सभी ज्ञानों से शून्य होता है। जैसे सभी सामग्री से युक्त वीणा, तन्तु (तार) से विहीन होने पर बजाई नहीं जा सकती, उसी प्रकार अभिषेक से विहीन (को) मन्त्र के जप और ध्यान से सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। जो मूढ़ (अज्ञानी) बिना अभिषेक प्राप्त किए मैं अभिषिक्त करूँगा, ऐसा कहता है, वह जब तक बुद्ध की स्थिति है सशिष्य नरक में जायेगा”। इन तीनों पक्षों के भावार्थ की भी सरह ने तीन उत्तर अभिषेकों से सम्बद्ध कर व्याख्या की है।

(ग) मार्गाभिसमय

मार्गाभिसमय के चार भेद हैं—I. क्रिया, II. चर्या, III. योग और IV. महायोग (अनुत्तरयोग)।

ग. I. क्रिया (तन्त्र)—सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र (तो० 805) की टीका में क्रियातन्त्र के अर्थ को संक्षेप में I. प्रवेश, II. योग, III साधना और IV सिद्धिचर्या चार भागों में बाँटकर कहा है।

1. विमलप्रभा, भाग-III, पृ० 42, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, 1994

ग. I. I. प्रवेश—(इसमें) सिद्ध (साधक) और असिद्ध (असाधक) पुद्गल दोनों का साधारण एवं असाधारण रूप से प्रवेश, व्रत और अभिषेक आदि हैं।

ग. I. II. योग—योग दो प्रकार का है—(I) साकार षड्देव समाधि योग और (II) अद्वय परमार्थ समाधि योग।

ग. I. II. I. साकार षड्देव समाधियोग—इसके भी दो भेद हैं—(I) देवयोग विधि और (II) मन्त्रविधि।

ग. I. II. I.I. देवयोग विधि—प्रथमतः शुद्धिकरण (पवित्रीकरण), स्थान और आत्मरक्षा, पुरतः (पट में) चित्रित काय में देवता का आवाहन कर पूजा करना, उसके सामने अपने कुल के अनुरूप पर्यङ्क (आसन) में स्थित होकर माया सदृश आत्मतत्त्व के पञ्चस्कन्धों को पुद्गलात्म और धर्मात्म (दोनों) से रहित, ग्राह्य-ग्राहक दोनों से शून्य, अद्वयज्ञान लक्षणात्मक प्रभास्वर बोधिचित्त की भावना करना है। ध्यानोत्तर(तन्त्र) (तो० 808) में कहा है—

“वहाँ स्थित देवकाय को, प्रथमतः पूजा करके,
प्रज्ञावान योगी स्थान सहित,
सुगत को पुरतः ध्यान कर,
बाद में अङ्ग विमोचन के भेदाभेद को विवर्जित कर
सूक्ष्म, अचल और प्रभास्वर
बुद्धिगोचर के समक्ष रख,
उसी तरह अपने को स्थापित करे”।

इसके पश्चात् आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके आभास से उत्थित कर देवतत्त्व को मन्त्र की छह देवताओं (के रूप में) भावना करके आत्मतत्त्व और सर्वाकारसदृश देवतत्त्व को निराभास स्वसंवेदन में प्रत्यक्ष होने तक भावना करे। वहाँ से उठाकर मन्त्र को शब्द में निक्षेपित करे। उसके बाद मन्त्राक्षर के आकार के रूप में आकाश में स्थित होता हुआ ध्यान करे। वह भी चन्द्रमण्डल से अभिन्न रश्मि संहरण और स्फुरण (द्वारा) अपने इष्टदेव के रूप में उत्पन्न कर उससे उष्णीषादि को मन्त्र एवं मुद्रा से अधिष्ठित कर अङ्गों सहित सविकल्प देव की भावना करे। इस प्रकार चित्त को अन्यत्र विक्षेप न होने देकर जाप

सम्पन्न होने तक बाँध कर यथासम्भव प्राणायाम करना है। वहीं (ध्यानोत्तर में) कहा है—“मन्त्र के विज्ञान द्वारा भावना कर, (चित्त को) बाँध कर और समाधि में स्थित (रहकर) प्राणायाम बन्धन करना चाहिये”। इसकी (ध्यानोत्तर की) (तो० 2670) टीका में कहा है—“विद्यामन्त्र और गुह्यमन्त्र (ये) छह प्रकार के स्वरूप वाले हैं, बोधिचित्त लक्षणात्मक अद्वयसमाधि, शब्द, अक्षर, मुद्रा, रूप और संवृत्ति समाधि, (ये) साकार समाधि के भेद हैं।” यह क्रिया की सामान्य विधि होने से जहाँ उत्पत्ति(क्रम) की विधि का निर्देश नहीं है, सभी में जोड़ना है। प्रत्येक का पृथक्-पृथक् भेद ग्रन्थ के अनुसार करना चाहिए। उसी (ध्यानोत्तर की टीका) में कहा है—

“यह तो (किसी भी) सामान्य मन्त्र विज्ञान का भावना क्रम है, अन्यत्र (जहाँ) दूसरे प्रकार से कहा है, वहाँ भी इसी प्रकार से जोड़ना चाहिए”।

ग. I. II. I. II. **मन्त्रविधि**—तत्पश्चात् मन्त्रध्यान(विधि) भी तीन प्रकार का है—I. चित्ताक्षर का आलम्बन, II. स्वहृदयाक्षर का आलम्बन और III. शब्दालम्बन।

ग. I. II. I. II. I. **अग्र¹ चित्ताक्षर का आलम्बन**—देवता की भावना करते हुए जप करने वाले को कच्छप के अंग की तरह सिकुड़ा हुआ तथा जिह्वा द्वारा जल पीने की तरह (उकडूँ), सर्वत्र शरीर में श्वासगमन (संचार) और इन्द्रियनगर में संहरण करने पर भी भीतरी चक्षु (द्वारा) बाहर देखने के अभिनय से पलकें खोल (अर्धोन्मीलित), मुख (चेहरा) थोड़ा उठा हुआ, शब्दमन्त्र की माला, चित्त को चन्द्रमण्डल तथा आधार बुद्धकायों को इसी क्रम में एक ही आलम्बन में, मन में ही धीमे स्वर में जाप करना चाहिये। बीच में (प्राण) वायु को ढील देकर प्रश्वास के समय अपरिवर्तित मन्त्राधार अध्यात्म भावित देवता को देखकर पूर्ववत् पुरःस्थापित (देव) कायादि तीनों को आलम्बित कर प्रश्वास के अन्त तक (समाप्ति पर्यन्त) प्राणायाम में बाँधकर जप करे। (यदि) थक जाय तो शब्दादि को क्रमशः संहत कर सामान्य रूप से (पुनः) उत्थान करना है।

ग. I. II. I. II. II. **स्वहृदयाक्षर का आलम्बन**—देवतत्त्व के काय को अपने रूप में परिवर्तित कर भावना करना वायु को ग्रहण कर समाधिस्थ होना है। आँखें किञ्चित्

1. ध्यान के लिए भावित देवता के हृदय (चित्त) में कल्पित अक्षर।

उन्मीलित होने पर भी साभास चित्त को पुरः¹स्थापित कर अनति दूर अपने से कुछ ऊँचाई में बुद्धकाय के हृदय में मन्त्रमाला सहित चन्द्रमा का ध्यान करे। उसके बाद वायु को अन्दर संहारित करते हुए मन्त्र सहित चन्द्रमा को एक साथ अपने हृदय में संहारित कर मन्त्रजाप करें। पुनः प्रश्वासानुसार मन्त्र सहित चन्द्रमा को पुरःस्थापित बुद्ध के हृदय में न्यास करना है। चन्द्रमा के ऊपर मन्त्रमाला का आलम्बन कर पुनः पूर्ववत् अपने चित्त में संहारण करते हुए जाप करें। (यह प्रक्रिया) जाप पर्यन्त (जब तक जाप नहीं छोड़ते) करनी चाहिये और (जाप) छोड़ते समय चारों² अंग एक आलम्बन पर रहने चाहिए।

ग. I. II. I. II. III. शब्दालम्बन—इस प्रकार चार अङ्गों वाली जप भावना के द्वारा वायु का संहारण कर (उसे) इन्द्रियनगर में संगृहीत करते हुए जप करना (इस प्रकार) है—(पाँच) तथागतों के आधार का अवलोकन कर सभी कायों के वायु मार्ग का अनुसरण करने वाले अश्वरूपी चित्त को अभिमुख कर, संकुचित कच्छप शरीर और जिह्वा द्वारा पानी पीने की तरह वायु को भीतर संहारणाभिनय से चित्त को अन्तःस्थापित करना चाहिए। स्वयं को देवता के साथ (अद्वय) अभिन्न भावित रूप से मैं (अहंकार) व्याप्त होता है। स्मृति और वायु के उद्गम का मार्ग अवरुद्ध कर वाच्य शब्द का आलम्बन करते हुए चित्त को धारण कर (स्थिर कर) श्वासपर्यन्त (अन्त तक) या मन्त्र की समाप्ति पर्यन्त जप करना है। पुनः निःश्वास (श्वास निर्गम) का अनुसरण कर पुरःस्थापित तथागतादि तीनों का आलम्बन करते हुए जप करना चाहिए। इस प्रकार (प्राण) वायु का श्वास-प्रश्वास और स्फरण संहारण के द्वारा शब्द (ध्वनि) पर (का) आलम्बन कर जप करना चाहिए।

इस प्रकार जाप समाधि में प्रथम में तीन, द्वितीय में दो तथा तीसरे में एक (प्रकार) है। इस प्रकार मन्त्र, आत्म और जप तीनों तत्त्वों को जानकर साधना करने से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। वहीं (ध्यानोत्तर में) कहा है—“शब्द, चित्त और आधार में अभ्यास, अपरिवर्तित मन्त्राधार पर स्थित, अविहीन अङ्ग (वाला साधक) मन्त्र का जाप करे। थक जाए तो विश्राम करे। अपरिवर्तनीय अक्षर युक्त (होना), चार आधार होना वैसा ही है, जो स्वमन्त्र की परीक्षा करता है। शुद्धि के लिए मन से ध्यान करें, पुनः संहारण द्वारा आकृष्ट कर, प्राणायाम द्वारा ग्रन्थित चित्त को, गुह्यमन्त्र विद्या द्वारा मन्त्र से संयुक्त करें। मन से जाप प्रारम्भ करें, इसी विधि से बिना आवाज किये (मन में ही जाप) भी कर

1. पुरःस्थापित समाधि के आधार पट-प्रतिमा आदि देवता का हृदय में प्रतिबिम्बित अक्षर।

2. आश्रयदेव, आश्रित बोधिचित्त, बीजमन्त्र से अनायास उत्पन्न होने वाली ध्वनि और प्राणायाम।

सकते हैं। मन्त्र की सिद्धि चाहने वाले को, अन्य (मन्त्र या विधि का) जाप नहीं करना चाहिये। इस अशेष विद्यामन्त्र और आत्मतत्त्व की विधि (से) जपतत्त्व विधि को जानने वाला मनुष्य सिद्धि प्राप्त करेगा।” इति।

ग. I. II. II. अद्वय परमार्थ समाधि योग—बिना जाप की अपेक्षा किए केवल ध्यान (मात्र) से सिद्धि (प्राप्त) होना और गुफादि (एकान्त) स्थानों में रहकर रूप, शब्द और परमार्थ देवता की भावना करना पूर्व में कहा जा चुका है। यहाँ शब्दात्मक विशिष्ट देवात्म तत्त्व का मन्त्रावयव के विभिन्न अक्षरों द्वारा मन से विज्ञप्ति ध्यान का स्वरूप है। दूसरा उस विद्यामन्त्र का शब्द अक्षर स्वरूप है। तीसरा परिशुद्ध अद्वयज्ञान का विषय धर्मधातु स्वरूप है, ये तीनों फल सहित भी हैं। उसी (ध्यानोत्तर) में कहा है—“अग्नि में स्थित मन्त्रसिद्धि प्रदान करता हुआ, शब्द में स्थित योग प्रदान करता हुआ तथा शब्द के अन्त में मोक्ष प्रदान करता हुआ, ये तीन प्रकार के तत्त्व स्मरण करें।” यहाँ ‘अग्नि में स्थित मन्त्र से सिद्धि प्रदान करने’ का अर्थ है आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर उसके बाद प्राप्त होने वाले शब्दात्मक देवतत्त्व की भावना करे। उस शब्द को हृदय में स्थित अग्नि ज्वाला के मध्य स्थित करे। उस शब्द के अक्षर माला में स्थित प्राणायाम को अवरुद्ध कर लय और औद्धत्य को त्याग कर प्रतिदिन ध्यान करना है। जब तक आन्तरिक और बाह्य लक्षण भूख आदि न लगने से यथा चिन्तित सिद्धि न होने तक भावना करनी चाहिए। इसे पूर्वोक्त जप के अन्त में या अन्यत्र की भावना करना है। वहीं (ध्यानोत्तर में) कहा है—“अभेद से उत्पन्न भावों को (सें), धीमान् ने स्व (आत्म) को बाँधा है। मन्त्री (साधक) अङ्गों से अतीत, बिना अभिनिवेश विचार करे, शब्द को माला में जोड़ना (गूँथना), अपरिवर्तित गुंथित अक्षर, घण्टा ध्वनि की तरह अविच्छिन्न, मन में अभिनिवेश का चिन्तन करे तो, अग्नि मध्यस्थ शान्त, परिशुद्ध शब्द अङ्गों से युक्त, प्राणायाम को भी अवरुद्ध किए आत्म (मन्त्री), निद्रा को त्याग कर चिन्तन करे।”

‘शब्द में स्थित योग प्रदान करता हुआ स्मरण करे’ इसका अर्थ है—आत्मतत्त्व में स्थित हृदय में चन्द्रस्थ अग्नि ज्वाला के मध्य आधार देव या चन्द्रमा में ही अक्षरमाला की भावना करते हुए थोड़ी (देर के लिए) समाधि प्रारम्भ करे। उसके बाद उस आकार को छोड़कर शब्द के घोष मात्र पर ही ध्यान करे। उसी (ध्यानोत्तर) में कहा है—

“हृदय में स्थित सूक्ष्म, निर्मल चन्द्र मण्डल, उसमें प्रशान्त सुदीप्त अग्नि ज्वाला, उसमें चार अक्षरों (अपरिवर्तनीय) को स्थापित कर, सुखासन में बैठ कर शब्द का चिन्तन करे या अक्षर पर शब्द स्थापित कर शब्द मात्र का ही ध्यान करे”।

‘शब्द के अन्त में मोक्ष प्रदान करता है’, इसका अर्थ है—पुनः संहरण, तप, ध्यान और प्राणायाम आदि (का अभ्यास) करके स्वाधिदेव के रूप की भावना कर समाधि को दृढ़ (स्थिर) करे। फिर उसी को धीमे स्वर के जाप का आलम्बन पर निर्भर समाधि को छोड़े। उसी (धीमे स्वर जाप) को दृढ़ करे। इसे भी सूक्ष्मचित्त जाप समाधि द्वारा प्रहाण करे। उसे (सूक्ष्मचित्त जाप समाधि को) दृढ़ करे। इसे भी अतिसूक्ष्म मन्त्र के विकल्प समाधि द्वारा प्रहाण करे। उसे (अतिसूक्ष्म मन्त्र के विकल्प समाधि) भी परित्याग कर प्रभास्वर धर्मधातु स्वभाव की भावना करने से मुक्ति (मोक्ष) मिलती है। वहीं (ध्यानोत्तर में) कहा है—

“शब्द पर आलम्बित ध्यान को करने मात्र से ही सत्श्री (युक्त) सभी वस्तुएं, साधक को प्राप्त होती हैं। सापेक्ष अङ्गभूत आभास, शब्द, मन (चित्त) और पदों (अक्षर) की शुद्धि और विद्यामन्त्र अभिषेक अंगों के प्रहाण को जिन (बुद्ध) जानते हैं”।

यह सामान्य क्रियातन्त्र होने से सभी क्रियातन्त्रों में (इसे) जोड़ना चाहिए। इस प्रकार से सामान्य और स्व-स्व देवता की उपासना कर अपनी-अपनी साधना में प्रविष्ट होते हैं।

ग. I. III. साधना—(इससे) काय, द्रव्य या धन (भोग) सिद्ध होता है।

ग. I. IV. सिद्धिचर्या—तीनों सिद्धियों को यथायोग्य सिद्ध कर स्वार्थ और परार्थ के लिए चर्या करना इसका स्वरूप है।

[क्रमशः]

दुर्लभ ग्रन्थों की आधार सामग्री

—ठाकुरसेन नेगी—

[इस शीर्षक के अन्तर्गत 'धीः' के 32वें अंक में 71 महत्वपूर्ण हस्तलिखित अवदान ग्रन्थों की सूचना दी गई थी। प्रस्तुत अंक में उससे आगे के अन्य 43 हस्तलिखित अवदान ग्रन्थों की सूचना दी जा रही है।]

ABBREVIATIONS

ASB	Sanskrit Manuscripts in the Government Collection, ed. by H.P. Shastri, Asiatic Society of Bengal, 1917.
ASHA	Asha Archives, Maitidevi, Kathmandu, Nepal.
BODLEIAN	Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Bodleian Library, Vol.II, 1905.
CAMBRIDGE	Catalogue of the Buddhist Manuscripts in the University Library, Cambridge, ed. by Cecil Bendall, Cambridge, 1883.
COMP./INCOMP.	Complete/Incomplete.
D-2	A Catalogue of Palm-Leaf and Selected Paper Manuscripts belonging to the Darbar Library, Nepal, ed. by H.P. Shastri, Calcutta, 1915.
DEV.	Devanāgarī.
IASWR	Buddhist Sanskrit Manuscripts, Micro-Fische Collection belonging to the Institute for Advance Studies of World Religions, New York.
IOL	Catalogue of the Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Library of India Office, Vol. II.
JBORS	The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna.
MCBMBLJ	A Microfilm Catalogue of the Buddhist Manuscripts in Nepal, ed. by H. Takaoka, Buddhist Library, Japan, 1981.
N	Newārī script.
NP/PL	Nepali Paper/Palm Leaf.
NEPAL-II	Catalogue of Darbar Library, Nepal, Vol.II.
PETROGRAD	Catalogue of Indian Manuscripts, Collection of E.P. Minaev and Some friends, compiler N.D. Mironoff, Published by the Russian Academy of Sciences, Petrograd, 1918.
RAK	Rāṣṭriya Abhilekhālaya, Kathmandu, Nepal.
RAS	Catalogue of Buddhist Sanskrit Manuscripts in the Possession of the Royal Asiatic Society, (Hodgson Collection) London.
SMTUL	A Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Tokyo University Library, Tokyo, Japan, 1965.

Title	Author	Institution	Ms. No.
पोषधावदान Poṣadhāvadāna		RAK "	Reel No. A.122/8 3/290, " " B.97/10
प्रशान्तकरणावदान Praśāntakaraṇāvadāna		IASWR	MBB-II-28
प्रेतावदान Pretāvadāna		RAK	Reel No. E.1367/2
" (माला) (Mālā)		"	" " A.123/6
"		"	651/4
"		IASWR	MBB-II-19
		"	MBB-II-30
बलवत्कुमारावदान Balavatkuṁārāvadāna		"	MBB-II-33
बोधिचर्यावतारानुशासनावदान Bodhicaryāvatārānuśāsaṇāvadāna		RAK	3/663
बोधिसत्त्वजातकावदानमाला Bodhisattvajātakāvadānamālā		"	3/259

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	9		
"	"	17		
"	"	22		
"	"	12		
"	"	265		
"	"	12		
"	"	22		
"	"	6		
"	"	10		
"	Dev.	47	Comp.	
"	"	38	Incomp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
बोधिसत्त्वावदानकल्पलता Bodhisattvāvadānakalpalatā		CAMBRIDGE	913

भद्रकल्पावदान Bhadrakalpāvadāna		SMTUL	265
"		"	266
"		"	267
"		"	479
"		CAMBRIDGE	1411
"		RAS	31
"		IASWR	MBB-II-139
"		"	MBB-III-8
"		RAK	4/10
"		"	5/49
"		"	3/233
"		"	3/243, Reel No.A.122/4
"		"	" " A.121/6
"		"	" " E.1481/1
"		"	" " E.1481/3
"		"	" " E.264/20
"		"	" " E.1322/3

भद्रकल्पावदानमन्त्रगाथा Bhadrakalpāvadānamantragāthā		"	" " E.1725/4
---	--	---	--------------

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	152		
"	"	62		Fragment Ch.1,29,30
"	Dev.	312	Comp.	
"	"	454		Ch. 1-Ch.34
"	N	56		Ch. 32
"	"	381		
"	"	46		
NP	"	58		
"	"	448		
"	"	470		
"	"	342		
"	Dev.	206		
"	N	15		
"	"	30		
"	"	11	Incomp.	
"	"	55		
"	"	284		
"	"	30		
"	"	250	Comp.	

Title	Author	Institution	Ms. No.
मणिचूडावदान		RAK	3/348
Manicūdāvadāna		"	3/245
		"	Reel No. E.381/3
		"	" " E.429/40
		"	" " E.1311/4
		"	" " E.1476/6
		"	" " E.1483/4
		"	" " E.1483/9
		"	" " E.1551/5
		"	" " E.1552/5
		"	" " E.1552/10
		"	" " E.167/16
		"	" " E.1698/2
		"	" " E.1848/3
		"	" " E.1848/15
	ASB		24/10845
	IASWR		MBB-II-74
	ASHA		DH.56
	"		DH.II.200
	"		DH.42
	"		DH.317
	"		RN.35
	"		" 46
	"		" 7
	"		" 127
	"		" 168
	"		" 176
	"		" 192
	"		" 194
	"		" 199
	"		" 200
	"		" 216
	"		" 375

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	107		
"	"	47		
"	N	24		
"	"	72		
"	"	40		
"	"	72	Comp.	
"	"	67	Incomp.	
"	"	91	"	
"	"	59	"	
"	"	52	"	
"	"	11	"	
"	Dev.	95	"	
"	N	2	"	
"	"	15	"	
"	"	47		
"	"	49	Comp.	
"	"	70	"	
"	"	48	Incomp.	
"	"	47	Comp.	
"	"	21	Incomp.	
"	"	229		
"	"	51	Comp.	
"	"	46	"	
"	"	35	"	
"	"	57	"	
"	"	47	"	
"	"	53	"	
"	"	63	"	
"	"	89	"	
"	"	80	"	
"	"	40	"	
"	"	63		
"	"	89		

Title	Author	Institution	Ms. No.
मणिचूडावदान		CABATON	82
Maṇicūḍāvadāna		PATROGRAD	291
		CAMBRIDGE	874
		"	1375
		"	1398
		"	1690-IV
		SMTUL	277
		"	278
		"	279
मणिशैलावदान		RAK	4/129, Reel No.A.919/12
Maṇiśailāvadāna		"	4/1495, " " B.98/3
महाजातकमाला (बुद्धावदानमाला)		SMTUL	285
Mahājātakamālā (Buddhāvadānamālā)			
महावस्तु-अवदान		RAS	9
Mahāvastu-Avadāna		SMTUL	173
		"	266-V-1
		"	297
		CAMBRIDGE	1339
		IASWR	MBB-II-154
		"	MBB-III-22
		ASHA	RN.11

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	Dev.	132		Published in JBTS
"	N	54		Vol.1.1893
"	"	76		
"	"	72		
"	"	46		A.D.1375
"	"	7		
"	"	45		Published in Avadā-
"	"	39		nakalpalatā
"	"	72		
NP	Dev.	65	Comp.	
"	N	85		
Paper	"	386		
"	"	360		
"	"	38		
"	"	(309-312)		
"	"	311	"	
"	"	272	"	
"	"	145	"	
"	"	376	"	
NP	"	145	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
महावस्तु-अवदान		RAK	3/236
Mahāvastu-Avadāna		"	4/129
		"	Reel No.E.380/6
		"	" " E.563/14
		"	" " E.1364/7
महासत्त्वावदान		"	3/604
Mahāsattvāvadāna		"	Reel No.E.1698/3
महासत्त्वरजकुमारावदान		ASHA	D.418 (II)
Mahāsattvarājakumārāvadāna			
मातृपोषहस्तिजातकावदान		RAK	4/18, Reel No.A.919/13
Mātrpoṣahastijātakāvadāna			
मैत्रेयकन्यकावदान		"	5/70, " " A.919/14
Maitreyakanyakāvadāna			

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	264	Comp.	
"	N	256	"	
"	"	72	"	
"	"	431	"	
"	"	348	"	
"	Dev.	5		
"	N	21	"	
"	"	23	"	
"	"	15	"	
"	"	56	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
रत्नमालावदान Ratnamālāvadāna		RAK "	Reel No.E.1343/4 " " E.1479/2
रत्नमाला-शुक्लावदान Ratnamālā-Śuklāvadāna		IASWR	MBB-II-7
रत्नावदानमाला Ratnāvadānamālā		CABATON " CAMBRIDGE " "	104 105 1592 1615 1618
राष्ट्रपालावदान Rāṣṭrapālāvadāna		RAK "	3/602 Reel No.E.1848/2
रु(उ)द्रायणावदान Ru(u)drāyaṇāvadāna		"	3/592, " " A.919/15
रूपवत्यवदान Rūpāvatyavadāna		"	" " E.651/9

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	346	Comp.	ed. by kanga Takahata, Tōyō Bunko, Oriental Library Series D, Vol. 3, Tokyo, 1954
"	"	308	"	
"	"	11		
Paper	Dev.	1-185	"	
"	"	186-369	"	
"	"	121	"	
"	"	143	"	
"	"	13		
NP	"	39	"	
"	N	33	"	
"	Dev.	28	"	
"	N	12	"	

Title	Author	Institution	Ms. No.
लघुभावोत्पत्त्यवदान Laghubhāvotpattyavadāna		RAK	Reel No.E.1361/16
लेकुञ्जिकावदान Lekuñjikāvadāna		IASWR	MBB-II-36
वज्रसत्त्वावदान Vajrasattvāvadāna		RAK	4/2160, Reel No.A.124/12
वज्रसेनावदान Vajrasenāvadāna		"	" " E.1258/6
वडिकावदान Vadikāvadāna		RAS	25
वपुष्मान्कुमारावदान Vapuṣmānkumārāvadāna		IASWR	MBB-II-22

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	Dev.	78	Comp.	
"	N	12		
"	"	5		
"	"	40	"	
Paper	"	31		
NP	"	9		

Title	Author	Institution	Ms. No.
वसिष्ठपरिपृच्छावदान		RAK	3/290
Vasiṣṭhāparipṛcchāvadāna		"	3/594
		"	3/594
वसिष्ठावदान		"	Reel No. E.1257/6
Vasiṣṭhāvadāna		"	" " E.1479/7
		"	" " E.1768/23
		"	" " E.1848/6
		ASHA	RN.33
		"	" 240
		"	DH.313
		"	DH.381
वसुधाराकल्पावदान (सुचन्द्रावदान)		SMTUL	355
Vasudhārākālpāvadāna			
(Sucandrāvadāna)			
वसुधारादेवीव्रत (संपूर्ण अश्वघोषावदान)		ASHA	DH.110
Vasudhārādevīvrata			
(Sampūrṇa Aṣvaghōṣāvadāna)			
वसुधाराव्रतावदान		RAK	Reel No.E.1295/4
Vasudhārāvratāvadāna			

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	17	Comp.	
"	Dev.	19	"	
"	"	18	"	
"	"			
"	N	13	"	
"	"	15	"	
"	"	6	Incomp.	
"	"	20	Comp.	
"	"	33	"	
"	"	33	"	
"	"	10	"	
"	"	10		
Paper	"	31		
NP	"	50		
"	"	27		

Title	Author	Institution	Ms. No.
वसुधाराव्रतोत्पत्त्यवदान		RAK	Reel No. E. 652/2
Vasudhārāvratotpattyavadāna		"	" " E.1295/4
		"	" " E.1337/19
		"	" " E.1354/5
		"	" " E.1367/8
		SMTUL	364
वस्त्रावदान		IASWR	MBB-II-32
Vastrāvadāna			
विचित्रकर्णिकावदान (माला)		RAK	4/126, Reel No. A.124/1
Vicitrakarnikāvadāna (Mālā)			
"		"	3/244
"		"	5/12
"		"	" " E.379/9
" "		"	" " E.651/1
" "		"	" " E.965/2
"		"	" " E.966/3
"		"	" " E.1256/12
"		"	" " E.1292/15
"		"	" " E.1354/8
"		"	" " E.1354/9
" "		"	" " E.1354/13
"		"	" " E.1479/3
"		"	" " E.1479/4
"		"	" " E.1484/2
" "		"	" " E.1727/5
" "		"	" " E.1728/5
" "		CAMBRIDGE	1589
" "		SMTUL	369
"		"	370
" "		"	371

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
NP	N	17		
"	"	27	Comp.	
"	"	36	"	
"	"	11		
"	"	16		
Paper	"	20		
NP	"	9		
"	"	150		
"	Dev.	82	"	
"	N	38	"	
"	"	59	"	
"	"	274	"	
"	"	219	"	
"	"	15	Incomp.	
"	"	17	"	
"	"	49		
"	"	41	Comp.	
"	"	37		
"	"	107	Incomp.	
"	"	80		
"	"	58		
"	"	20	"	
"	"	268		
"	"	268	"	
Paper	"	144		
"	"	107		Ch.16-32
"	"	38		Ch.1-4
"	"	156		Ch.1-14

Title	Author	Institution	Ms. No.
विचित्रकर्णिकावदान(माला)		SMTUL	372
Vicitrakarnikāvadāna(mālā)			
"		"	373
"		ASHA	RN.4
"		"	" 10
"		"	" 21
"		"	" 23
"		"	" 25
" "		"	" 141
" "		"	" 196
" "		"	DH.91
" "		"	DH.92
" "		"	DH.II.269
विरुपाक्ष(क्ष)कथा (उपोषधावदान)		RAK	Reel No.E.1291/13
Virupākṣa(kṣa)kathā (upoṣadhāvadāna)			
विश्वभद्रबोधिसत्त्वावदान		"	3/696
Viśvabhadrabodhisattvāvadāna		"	3/657
विश्वान्तरावदान		"	Reel No.E.1367/7
Viśvāntarāvadāna		"	3/244
		"	4/1383
		SMTUL	29-III
		"	376
		ASHA	RN.172
		"	" 16
		"	" 40

Material	Script	Folio	Comp./Incomp.	Other Information
Paper	N	66		Ch.18-24
"	"	150		Ch.1-16
NP	"	64	Incomp.	
"	"	23(33-56)	"	
"	"	10	"	
"	"	13	"	
"	"	2-16	"	
"	"	148	Comp.	
"	"	219	Incomp.	
"	"	380	Comp.	
"	"	38		
"	"	269	"	
"	"	12	"	
"	"	52		
"	"	57		
"	"	36	"	
"	Dev.	10	"	
"	"	55		
Paper	"	15		
"	N	31		
NP	"	91	"	
"	"	30	"	
"	"	29	Incomp.	

हूँकारोऽनाहतं बीजं स्रवत्तुषारसन्निभम् ।
वसन्त इति विख्यातो देहिनां हृदिनन्दनः ॥
वडवानलरूपा तु वाराही तिलका स्मृता ।
कर्ममारुतनिर्धूता ज्वलन्ती नाभिमण्डले ॥
वसन्तं प्राप्य सन्तुष्टा समापत्त्या व्यवस्थिता ।
एष श्रीहेरुको वीरो वसन्ततिलका स्मृता ॥

(वसन्ततिलक 6.4-6)

आर्यसर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रानामापराजिता
प्रत्यङ्गिरा महाविद्याराज्ञी

ĀRYASARVATATHĀGATOṢṢASITĀTAPATRĀ-
NĀMĀPARĀJITĀ PRATYAṅGIRĀ
MAHĀVIDYĀRĀJÑĪ

सम्पादन में प्रयुक्त आदर्श प्रति—

धारणीसंग्रह : राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमांडू, नेपाल

लगत सं० - 3-589

पत्र सं० - 335 (137-143)

लिपि - देवनागरी

रील नं० - ए 131/9

फोटो प्रति - केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी
परिग्रहण सं० 5068

सितातपत्रा

ॐ नमः श्रीसर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः ।

एवं मया श्रुतम् एकस्मिन् समये भगवान् देवेषु त्रायस्त्रिंशेषु विहरति स्म । सुधर्मायां देवसभायां महता भिक्षुसंघेन महता च बोधिसत्त्वसंघेन भिक्षुशतैः शक्रेण च देवतानामिन्द्रेण सार्धम् । तत्र खलु भगवान् प्रज्ञप्त एवासने निषद्य उष्णीषमवलोकितं नाम समाधिं समापद्यते स्म । समनन्तरसमापन्नस्य भगवत उष्णीषमध्यादिमानि मन्त्रपदानि निश्चरन्ति स्म ।

नमो भगवते उष्णीषाय शुद्धे विरजे विमले स्वाहा । नमो भगवते अप्रणिहतोष्णीषाय । नमो बुद्धाय । नमो धर्माय । नमो संघाय । नमः सप्तानां सम्यक्संबुद्धकोटीनां नमो मैत्रेयप्रमुखानां सर्वबुद्धबोधिसत्त्वानां सश्रावकसंघानाम् । नमो लोके अर्हतानाम् । नमः स्रोत-आपन्नानाम् । नमः सकृदागामिनाम् । नमो अनागामिनाम् । नमो लोके सम्यग्गतानाम् । नमः सम्यक्प्रतिपन्नानाम् । नमो देवर्षीणाम् । नमो देवब्रह्मणे । नमो बुद्धाय । नमो भगवते रुद्राय उमापतिसहिताय । नमो वरुणाय । नमो भगवते नारायणाय । महापञ्चमुद्रा नमः नमस्कृताय । नमो भगवते नन्दिकेश्वरमहाकालाय । त्रिपुरनगरविद्रावणकराय । अधिमुक्तिककश्मीर-महाश्मशाननिवासिताय । नमो मातृगणसहिताय । नमो भगवते तथागतकुलस्य । नमो भगवते पद्मकुलस्य । नमो भगवते वज्रकुलस्य । नमो भगवते मणिकुलस्य । नमो भगवते गजकुलस्य । नमो भगवते कर्मकुलस्य । नमो भगवते रत्नकुलस्य । नमो भगवते कुमारकुलस्य । नमो भगवते नागकुलस्य । नमो भगवते रागकुलस्य । नमो भगवते दृढशूर[र]णसेनप्रहरणराजाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते अमिताभाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते अक्षोभ्याय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते वज्रधरसागरगर्जिने तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते भैषज्यगुरुवैडूर्यप्रभराजाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते अमोघसिद्धये तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते सुपुष्पितसालेन्द्रराजाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते पद्मोत्तरराजाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते विपश्चिने तथागतायार्हते सम्यक्-

संबुद्धाय । नमो भगवते शिखिने तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते विश्वभुवे तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते क्रकुच्छन्दाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते कनकमुनये तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते काश्यपाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते शाक्यमुनये तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते रत्नचन्द्राय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते रत्नकेतुराजाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते समन्तभद्राय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते वैरोचनाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । नमो भगवते विकसितकमलोत्तरगन्धकेतुराजाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । एभ्यो नमस्कृत्वा इमां भगवतीं सर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रा-
नामापराजितां प्रत्यङ्गिरां प्रवक्ष्यामि ।

सर्वकलिकलहविग्रहविवादप्रशमनीम् । सर्वभूतग्रहनिवारणीम् । सर्वपर-
विद्याच्छेदनीम् । अकालमृत्युपरित्रायणीम् । सर्वसत्त्वबन्धनमोक्षणीम् । सर्वदुः-
स्वप्ननाशनीम् । यक्षराक्षसग्रहाणां विध्वंसनकरीम् । चतुरशीतिनां ग्रहसहस्राणां
विध्वंसनकरीम् । अष्टाविंशतीनां नक्षत्राणां प्रसादनकरीम् । सर्वशत्रुनिवारणीमष्टानां
महाग्रहाणां विध्वंसनकरीम् । घोरदुष्टदुःस्वप्नानां च विनाशनकरीम् । विष-
शस्त्राग्न्युदकोत्तारणीम् । सर्वदुर्गतिभयोत्तरणीम् । यावदष्टावकालमरणपरित्राण-
करीम् । अपराजितां महाघोरां महाबलां महातेजां महाचण्डां महाश्वेतां महादीप्तां
महामालां महाज्वालां महापाण्डरवासिनीम् ।

आर्यतारा भृकुटी चैव जया च विजया तथा ।
सर्वमारविहन्त्री च वज्रमालेति विश्रुता ॥

पद्मा भावजचिह्ना च माला चैवापराजिता ।
वज्रतुण्डी विशाली च शान्ता वैदेहपूजिता ॥

सौम्यरूपा महाश्वेता ज्वाला पाण्डरवासिनी ।
आर्यतारा महाबला अपरा वज्रशृङ्खला ॥

[तथा च] वज्रकौमारी कुलंदरी [तथैव] च ।
वज्रहस्ता वज्रविद्या [तथा] काञ्चनमालिका ॥

कुसुंभरत्ना(रदना) चैव वैरोचनकुलप्रभा ।
तथागतकुलोष्णीषविश्रुता विजृम्भमानिका ॥

वज्रा कनकप्रभा लोचना वज्रतुण्डिका ।
[तथा] श्वेता च कमलाक्षिणी बुद्धलोचना ॥

तथा वज्रप्रभा चन्द्रा तथा वज्रधरापि च ।
वज्रमाला महामाया देवी च कनकप्रभा ॥

सुलोचना [तथा चैव] श्वेता च कमलेक्षणा ।
विनीता शान्तचित्ता च आत्मगुणज्ञा शशिप्रभा ॥

इत्येता महामुद्रागणाः सर्वमातृगणाश्च सर्वा रक्षां कुर्वन्तु मम सर्वसत्त्वानां
च ।

ॐ ऋषिगणप्रशस्ते सर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रे हूँ हूँ ह्रीं ह्रीं जम्भनि । हूँ
हूँ ह्रीं ह्रीं स्तम्भनि । ॐ हूँ हूँ ह्रीं ह्रीं परविद्यास्तम्भनकरी । हूँ हूँ ह्रीं ह्रीं
सर्वयक्षराक्षसग्रहाणां विध्वंसनकरी । हूँ हूँ ह्रीं ह्रीं चतुरशीतिनां ग्रहसहस्राणां
विध्वंसनकरी । हूँ हूँ ह्रीं ह्रीं अष्टाविंशतिनां नक्षत्राणां प्रसादनकरी । हूँ हूँ ह्रीं ह्रीं
अष्टानां महाग्रहाणां विध्वंसनकरी । हूँ हूँ ह्रीं ह्रीं रक्ष 2 मां सर्वसत्त्वांश्च ।

नमो भगवति सर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रे महाप्रत्यङ्गिरे महासहस्रभुजे
महासहस्रशीर्षे कोटीशतसहस्रनेत्रे अभेद्ये ज्वलितटंकारि महावज्रोदारे त्रिभुवन-
मण्डले । ॐ स्वस्तिर्भवतु मम सर्वसत्त्वानां च । राजभयात्, चौरभयात्, अग्नि-
भयात्, उदकभयात्, विषशस्त्रभयात्, शत्रुभयात्, परचक्रभयात्, दुर्भिक्षभयात्,
अरिभयात्, अशनिभयात्, अकालमृत्युभयात्, धरणीकम्पभयात्, उल्कापातभयात्,
राजदण्डभयात्, चण्डमृगभयात्, नागभयात्, विद्युद्भयात्, तसबालुकभयात्,
सुपर्णिभयात्, सर्वमृत्यूपद्रवोपसर्गोपायासभयात्, ग्रहभयात्, देवभयात्, नागभयात्,
यक्षभयात्, राक्षसभयात्, गन्धर्वभयात्, असुरग्रहात्, महोरगग्रहात्, मनुष्यग्रहात्,
अमनुष्यग्रहात्, भूतग्रहात्, प्रेतग्रहात्, पिशाचग्रहात्, कुम्भाण्डग्रहात्, पूतनग्रहात्,
कटपूतनग्रहात्, स्कन्दग्रहात्, उन्मादग्रहात्, छायाग्रहात्, अपस्मारग्रहात्, ओस्ता-
डकग्रहात्, डाकिनीग्रहात्, कटडाकिनीग्रहात्, रेवतीग्रहात्, शकुनिग्रहात्, मातृ-

नन्दिग्रहात्, लम्बिकाग्रहात्, शमिकाग्रहात्, आलम्बनग्रहात्, कटवासिनीग्रहात्, कंटकमालिनीग्रहात्, सर्वग्रहात्। व्रताहारिण्याः, गर्भाहारिण्याः, रुधिराहारिण्याः, मांसाहारिण्याः, मेदाहारिण्याः, मज्जाहारिण्याः, जाताहारिण्याः, जीविताहारिण्याः, वल्याहारिण्याः, माल्याहारिण्याः, गन्धाहारिण्याः, पुष्पाहारिण्याः, धूपाहारिण्याः, फलाहारिण्याः, शस्याहारिण्याः, आहुत्याहारिण्याः, पूजाहारिण्याः, विष्टाहारिण्याः, मूत्राहारिण्याः, खेटाहारिण्याः, सिंघाणकाहारिण्याः, वाताहारिण्याः, विरिक्ताहारिण्याः, अशुच्याहारिण्याः, स्पन्दनिकाहारिण्याः, वित्ताहारिण्याः, चित्ताहारिण्या एतेषां सर्वेषां सर्वविघ्नांश्छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। परिव्राजकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। डाकडाकिनीकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। ब्रह्मकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। शक्रकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। नारायणकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। महापशुपतिकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। महाकालकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। मातृकागणकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। कापालिककृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। शबरकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। पुक्कसकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। अथर्वणकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। वज्रकौमारीकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। यमारिकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। यमदूतकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। क्रूरनागकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। अधिकर्मकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। विनायककृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। कुमारकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। चतुर्महाराजकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। चतुर्भगिनीकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। गरुडकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। जयकरमधुकरसिद्धिकरसर्वार्थसाधनकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। शृंगिरिटिनन्दिकेश्वरकार्तिकेयचन्द्रसूर्यगणपतिसहायकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। नग्नश्रव(म)णकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। अर्हतकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। अवलोकितेश्वरकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण। वीतराग [कृतां] विद्यां छिन्दयाम्यसिना

कीलयामि वज्रेण । वज्रपाणि गुह्यकाधिपतिकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण । यत्र यत्रकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण । येन कारितां तस्य कृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण । मुण्डश्रव(म)णकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण । दूतदूती-चेटचेटीकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण । सर्वर्षिवरकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण । सर्वदेवतगणकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण । सर्वाहितैषिपतिकृतां विद्यां छिन्दयाम्यसिना कीलयामि वज्रेण । ॐ भगवति रक्ष 2 मां सर्वसत्त्वांश्च सर्वभयेभ्यः सर्वोपद्रवोपसर्गोपायासेभ्यः सर्वदुष्टप्रदुष्टान् सर्वप्रत्यमित्राहितैषिणो वा तथागतोष्णीषसितातपत्रे नमोस्तु ते । सर्वबुद्धनमस्कृते । असितानलार्कप्रभास्फुट-विकसितसितातपत्रे । ॐ ज्वल 2 धक 2 खाद 2 दर 2 विदर 2 छिन्द 2 भिन्द 2 हूँ हूँ फट् 2 स्वाहा । सर्वदुष्टान् हूँ हूँ सर्व उल(ल्ल)ङ्घितेभ्यः फट् । सर्वदुर्लिखितेभ्यः फट् । सर्वदुश्छायेभ्यः फट् । सर्वदिग्भ्यः फट् । सर्वविदिग्भ्यः फट् । सर्वदुर्मुक्तेभ्यः फट् । सर्वदुश्छर्दितेभ्यः फट् । सर्वावद्यतेभ्यः फट् । सर्वदुष्कृतेभ्यः फट् । सर्वदुष्प्रेक्षितेभ्यः फट् । सर्वज्वले(रे)भ्यः फट् । सर्वापस्मारेभ्यः फट् । सर्वापस्मारकेभ्यः फट् । सर्वडाकिनीभ्यः फट् । सर्वरेवतीभ्यः फट् । सर्वकट-वासिनीभ्यः फट् । सर्वजा(या)मकेभ्यः फट् । सर्वशकुनिभ्यः फट् । सर्वमातृ-नन्दिकेभ्यः फट् । सर्वगरेभ्यः फट् । सर्वविषेभ्यः फट् । सर्वयोगेभ्यः फट् । सर्वालंबकेभ्यः फट् । सर्वभयेभ्यः फट् । सर्वोपद्रवेभ्यः फट् । सर्वोपसर्गोपायासेभ्यः फट् । सर्वोत्त्रासेभ्यः फट् । सर्वव्याधिभ्यः फट् । सर्वश्रमणेभ्यः फट् । सर्वग्रहेभ्यः फट् । सर्वतीर्थकेभ्यः फट् । सर्वप्रत्यर्थिकेभ्यः फट् । सर्वपातकेभ्यः फट् । सर्वोन्मादेभ्यः फट् । सर्वविद्याधरेभ्यः फट् । जयकर-मधुकरसर्वार्थसाधकेभ्यः फट् । सर्वविद्याचारेभ्यः फट् । सर्वविद्याराजेभ्यः फट् । सर्वसाधकेभ्यो विद्या-चार्येभ्यः फट् । चतुर्भ्यो भगिनीभ्यः फट् । वज्रकौमारीये विद्याराज्ञीये फट् । सर्वविघ्नविनायकानां फट् । परविद्रापन(वण)कराय फट् । सर्वासुरेभ्यः फट् । सर्वगरुडेभ्यः फट् । सर्वमहोरगेभ्यः फट् । सर्वमनुष्यामनुष्येभ्यः फट् । सर्वमरुतेभ्यः फट् । सर्वकुम्भाण्डेभ्यः फट् । वज्रशृङ्खलाय महाप्रत्यङ्गिराय फट् । सर्वोपसर्गेभ्यः फट् । महाप्रत्यङ्गिरेभ्यः फट् । छिन्द 2 फट् । भिन्द 2 फट् । हूँ हूँ फट् । हे हे फट् । हो हो फट् । अमोघाय फट् । अप्रतिहताय फट् । वरदाय फट् । असुर-विद्रायन(वण)कराय फट् । सर्वदेवेभ्यः फट् । सर्वनागेभ्यः फट् । सर्वयक्षेभ्यः

फट्। सर्वराक्षसेभ्यः फट्। सर्वगन्धर्वेभ्यः फट्। सर्वकिन्नरेभ्यः फट्। सर्वभूतेभ्यः
 फट्। सर्वप्रेतेभ्यः फट्। सर्वपिशाचेभ्यः फट्। सर्वपूतनेभ्यः फट्। सर्वकटपूतनेभ्यः
 फट्। सर्वस्कन्देभ्यः फट्। वज्रशृङ्खलेभ्यः फट्। महाप्रत्यङ्गिराराजाय फट्।
 कालाय फट्। महाकालाय फट्। मातृगणेभ्यः फट्। महामातृगणनमस्कृताय
 फट्। वैष्णवीये फट्। माहेश्वरीये फट्। ब्रह्मायणीये फट्। अग्नीये फट्।
 महाकालीये फट्। कालदण्डीये फट्। ऐन्द्रीये फट्। रौद्रीये फट्। चामुण्डीये फट्।
 वाराहीये फट्। महावाराहीये फट्। कालरात्रीये फट्। रात्रीये फट्। यमदाढीये
 फट्। कापालीये फट्। महाकापालीये फट्। कौमारीये फट्। यामीये फट्। वायवे
 फट्। नैऋतीये फट्। वारुणीये फट्। मारुतीये फट्। महामारुतीये फट्। सौम्याये
 फट्। ऐशानीये फट्। पुक्कसीये फट्। अथर्वणीये फट्। शबरीये फट्। कृष्ण-
 शबरीये फट्। यमदूतीये फट्। निशिदिवाचरेभ्यः फट्। त्रिसन्ध्याचरेभ्यः फट्।
 धरणीये फट्। अधिमुक्तिकाशमीरमहाश्मशानवासिनीये फट्। एभ्यः सर्वभयेभ्यः
 फट्। सर्वदोषेभ्यः फट्। ॐ ष्ठौ बन्ध 2 दुष्टान् रक्ष 2 मां सर्वसत्त्वानां स्वाहा। ये
 केचिन् मम सर्वसत्त्वानां च दुष्टा दुष्टचित्ता रौद्रा रौद्रचित्ता पापाः पापचित्ताः
 कुपिताः कुपितचित्ता अमित्रा अमित्रचित्ता। एते मम सर्वसत्त्वानां च रक्षां कुर्वन्तु
 जीवन्तु वर्षशतं पश्यन्तु शरदां शतम्। ये केचिद्यक्षग्रहाः, व्रताहाराः, गर्भाहाराः,
 रुधिराहाराः, बंशा(वसा)हाराः, मांसाहाराः, मेदाहाराः, मज्जाहाराः, जाता-
 हाराः, जीविताहाराः, वल्याहाराः, माल्याहाराः, गन्धाहाराः, पुष्पाहाराः, धूपा-
 हाराः, फलाहाराः, आहुत्याहाराः, वित्ताहाराः, चित्ताहाराः, पूजाहाराः, मुद्रा-
 हाराः, श्लेष्माहाराः, खेटाहाराः, सिंघाणकाहाराः, वाताहाराः, विरिक्ताहाराः,
 अशुच्याहाराः, स्पन्दनिकाहाराः। पापचित्ताः, दुष्टचित्ताः, रौद्रचित्ताः, देवग्रहाः,
 नागग्रहाः, यक्षग्रहाः, राक्षसग्रहाः, गन्धर्वग्रहाः, असुरग्रहाः, गरुडग्रहाः, किन्नर-
 ग्रहाः, महोरगग्रहाः, मनुष्यग्रहाः, अमनुष्यग्रहाः, मरुतग्रहाः, पिशाचग्रहाः, भूत-
 ग्रहाः, कुम्भाण्डग्रहाः, पूतनग्रहाः, कटपूतनग्रहाः, स्कन्दग्रहाः, उन्मादग्रहाः,
 छायाग्रहाः, अपस्मारग्रहाः, ओस्ताडकग्रहाः, डाकिनीग्रहाः, रेवतीग्रहाः, शमि-
 काग्रहाः, जा(या)मकग्रहाः, शकुनिग्रहाः, मातृनन्दिग्रहाः, कम्बुकामिनीग्रहाः,
 अलम्बनग्रहाः, कटडाकिनीग्रहाः, कंटकमालिनीग्रहाः, सर्वग्रहाः।

ज्वरा एकाहिकाः, द्वैतीयकाः, त्रैतीयकाः, चातुर्थिकाः, सप्ताहिकाः,
 अर्द्धमासिकाः, मासिकाः, द्वै[मा]सिकाः, मौहूर्तिकाः, नित्यज्वराः, विषमज्वराः,

प्रेतज्वराः, पिशाचज्वराः, मानुषज्वराः, अमानुषज्वराः, वातिकाः, पैतिकाः, श्लैष्मिकाः, सान्निपातिकाः, सर्वज्वराः शिरोवर्तिमपनयन्तु मम सर्वसत्त्वानां च अर्द्धाविभेदकम्, अरोचकम् अक्षिरोगं नासारोगं मुखरोगं कण्ठरोगं हृद्रोगं गलग्रहं कर्णशूलं दन्तशूलम् उरःशूलं हृदयशूलं मर्मशूलं पृष्ठशूलम् उदरशूलं वस्तिशूलं गुदशूलं योनिशूलं प्रदरशूलम् ऊरुशूलं जङ्घाशूलं हस्तशूलं पादशूलम् अङ्ग-प्रत्यङ्गशूलं मम चापनयन्तु । भूतप्रेतवेतालडाकिनीज्वरदग्धकण्डूकिटिभकुष्टपित्त-कप्लीहभगंदरलूतापामावैसर्पलोहलिङ्गाशेषश्चासत्रासकासमूर्छागरविषययोगान्यु-दकमारमारीकलहवैरकान्ताराकालमृत्युत्र्यम्बुकत्रै(तै)लाटकवृश्चिकसर्पनकुल-सिंहव्याघ्रक्षतरक्षुचर्मरमकरवृकतस्कराजीवकायिकानपनयन्तु । अन्येषां सर्वेषां सितातपत्रमहोष्णीषमहाप्रत्यङ्गिराविद्यानुभावेन यावद् द्वादशयोजनाभ्यन्तरेण पञ्चा-शतयोजनाभ्यन्तरेण वा विद्याबन्धं करोमि तेजोबन्धनं करोमि सर्वविद्याबन्धनं करोमि परविद्याबन्धनं करोमि सीमाबन्धनं करोमि धरणीबन्धनं करोमि दश-दिग्बन्धनं करोमि परसैन्यस्तम्भनं करोमि । तद्यथा ॐ अनने २ खखने २ विषम २ वीरे २ मौन्य २ शान्ते २ दान्ते २ वज्रधर बन्धबन्धनि वज्रपाणे फट् । ॐ हूँ ह्रीं फट् २ स्वाहा । ॐ वज्रपाशे बन्ध २ वज्रपाशं च सर्वदुष्टविघ्नविनायकान् हूँ फट् २ रक्ष २ माँ सर्वसत्त्वांश्च स्वाहा । य इमां सर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रानामाप-राजिताप्रत्यङ्गिरामहाविद्याराज्ञीं लिखित्वा भूर्जपत्रे वस्त्रे वा वल्कले वा कायगतं वा कण्ठगतं वा कृत्वा धारयिष्यति वाचिष्यति अशुद्धकं न क्षमिष्यति । सर्वकृत्य-कर्म न क्रमिष्यति । नगरं क्रमिष्यति, योगं क्रमिष्यति, नाकालमृत्युना कालं करिष्यति । सर्वग्रहाणां सर्वविघ्नविनायकानां च प्रियो भविष्यति । मन-आपश्चतुर-शीतिकल्पकोटीसहस्राणि जातौ जातौ जातिस्मरो भविष्यति चतुरशीतिवज्रकुल-कोटिनियुतशतसहस्राणि विद्यादेवता नित्यं सततसमितं तस्य रक्षावरणगुप्तिं करिष्यन्ति । चतुरशीतिवज्रदूती किंकरा नित्यं परिपालयिष्यन्ति तेषामपि प्रियो भविष्यति । मन-आपश्च न कदाचिद्यक्षत्वं न राक्षसत्वं न भूतत्वं न पिशाचत्वं न पूतनत्वं न कटपूतनत्वं न मनुष्यदारिद्र्यं प्रत्यनुभविष्यति । गङ्गानदीबालुका-संख्येयाप्रमेयाणां बुद्धानां भगवतां पुण्यस्कन्धेन समन्वागतो भविष्यति । इमां च सर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रानामापराजितां प्रत्यङ्गिरा महाविद्याराज्ञीं धारयमाण अभ्रह्मचारी ब्रह्मचारी भविष्यति । अमौनी मौनी भविष्यति । अशुचिः शुचिर्भ-विष्यति । अनुपवासी उपवासी भविष्यति । योऽपि पञ्चानन्तर्यकारी स्यात् सोऽपि

निर्धूतपापो भविष्यति। पूर्वकर्मावरणं निरवशेषं परिक्षयं गच्छति। यः कश्चित् मातृग्रामे तथागतोष्णीषसितातपत्रानामापराजिता महाप्रत्यङ्गिरा महाविद्याराज्ञीं धारयमाणः पुत्रार्थी पुत्रं प्रतिलभते। आयुःपुण्यबलं प्रतिलभते। इतश्च्युत्वा सुखावत्यां लोकधातावुपपद्यते। स च रागद्वेषमोहमानदर्पविगतो भविष्यति। यः कश्चिन्मनुष्यमारे पशुमारे गोमारे सर्वेऽप्युपद्रवोपसर्गोपायासपरचक्रागमनेषु तस्य भगवतो जिनस्य सम्यक्संबुद्धस्य सर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रानामापराजितां ध्वजाग्रावरोपितां कृत्वा महता पूजासत्कारेण महतीं पूजां कृत्वा सर्वनगरद्वारेषु प्रवेशयेत् विहारे वा ग्रामे वा नगरे वा जनपदे वा निगमे वा श्मशाने वा पर्वते वा अरण्यायतने वा इमामपराजितां प्रत्यङ्गिरां विद्याराज्ञीं महता सत्कारेण प्रवेशयेत्। प्रवेशितमात्रेण प्रशान्तिकृतो भविष्यति। सर्वेऽप्युपद्रवोपसर्गोपायासाः परचक्राणि प्रशाम्यन्ति। अनन्तो नागराजा शङ्खपालो नागराजा महाकृष्णो नागराजा नन्द्युपनंदौ नागराजानौ अन्ये च सर्वे ते नागराजानः काले च कालं वर्षयिष्यन्ति कालेन कालं औत्सुक्यमापत्स्यते। कालेन कालं गर्जयिष्यन्ति सर्वरोगोपद्रवांश्चोपशमयिष्यन्ति। ॐ ह्रीं बन्ध 2 सर्वदुष्टान् रक्ष 2 मां सर्वसत्त्वांश्च स्वाहा। ॐ हूँ ह्रीं बन्ध 2 दुष्टान् रक्ष 2 मां सर्वसत्त्वांश्च वज्रपाणे हूँ फट् स्वाहा। ॐ सर्वतथागतोष्णीष अवलोकितमूर्ध्नि तेजोराशि। ॐ ज्वल 2 धक् 2 खाद 2 दर 2 विदर 2 छिन्ते (छिन्द) 2 भिन्द 2 हूँ 2 फट् 3 रक्ष 2 मां सर्वसत्त्वांश्च स्वाहा। ॐ सर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रे हूँ फट्। ॐ रक्ष 2 मां सर्वसत्त्वांश्च हूँ फट् स्वाहा। तद्यथा— ॐ अनले 2 अचरे 2 खसमे 2 वीरे 2 सौम्ये 2 सर्वबुद्धाधिष्ठानाधिष्ठिते सर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रे सर्वदुष्टचित्तान् हूँ फट् स्वाहा। बुद्धयोगेन सर्वोपद्रवेषु त्रिजप्ता कर्तव्या। सर्वबुद्धबोधिसत्त्वाश्च सदेवमानुषासुरगरुडकिन्नरमहोरगश्च लोको भगवतो भाषितमभ्यनन्दन्निति।

आर्यसर्वतथागतोष्णीषसितातपत्रानामपराजिता प्रत्यङ्गिरा
महाविद्याराज्ञी समाप्ता ॥

नित्यकर्मपूजाविधिः

NITYAKARMAPŪJĀVIDHIḤ

सम्पादन में प्रयुक्त आदर्श प्रति—

नित्यकर्मपूजाविधि:

इन्स्टीच्यूट फॉर एडवांस स्टडीज़ ऑफ वर्ल्ड रिलिजन्स, न्यूयॉर्क

सं० MBB-1973-196, नेपाली कागज, देवनागरी

पत्र संख्या-17 (34)

नित्यकर्मपूजाविधिः

ॐ नमः श्रीवज्रसत्त्वाय ।

अथ नित्यकर्मपूजाविधिः प्रारभ्यते । तत्रादौ ॐ ह्रीं स्वाहा ३ काय-
विशोधने स्वाहा । इति मन्त्रेण त्रिधा आचम्य पूजाभाण्डसंकल्पं कुर्यात् ।
तद्यथा—ॐ अद्य श्रीमच्छ्रीत्यादिना संकल्पोच्चारणानन्तरमिदं मन्त्रं पठेत् । ॐ
नमो भगवते पुष्पकेतुराजाय तथागतायार्हते सम्यक्संबुद्धाय । तद्यथा—ॐ पुष्पे २
महापुष्पे सुपुष्पे पुष्पोद्भवे पुष्पसंभवे पुष्पावकिरणे स्वाहा । इदं सपुष्पधूपदीप-
गन्धरसनैवेद्यादियुक्तं सुवर्णपुष्पभाजनं संकल्पयाम्यहम् । ततो प्राणायामादि
न्यासयोगादि कृत्वा गुरुं च नमस्कृत्य शङ्खं पूजयेत् ॥ ॐ गुरुभ्यो नमः ३ समस्त
गुरु आज्ञा । ॐ आः हूं वं वज्रोदके हूं स्वाहा ॥ शिरसि शङ्खोदकेनाभिषिञ्चेत्—

यथा हि जातमात्रेण स्नापिताः सर्वतथागताः ।

तथाहं स्नापयिष्यामि शुद्धदिव्येन वारिणा ॥

ॐ सर्वतथागताभिषेकसमश्रिये हूं । पुनः । ॐ ह्री स्वाहेति मन्त्रेणाचम्य
पूर्वोक्तमन्त्रेण पूजाभाण्डमधिष्ठाय पुष्पैकं त्रिकायाधिष्ठानं कृत्वा भूमौ न्यसेत् । ॐ
आः हूं ३ तिष्ठ वज्रासने हूं । पार्श्वाभ्यां क्षिपेत् द्वौ पुष्पौ । ॐ सर्वपापानपनय हूं ।
एकं शिरसि न्यसेदनेन मन्त्रेण—ॐ मणिधरि वज्रिणि महाप्रतिसरे रक्ष २ मां
सर्वसत्त्वानां च हूं २ फट् स्वाहा । मण्डले तिलकं कृत्वाऽऽत्मानं च भूषयेत् । ॐ
वज्रतिलकभूषणे स्वाहा । सजलपुष्पाक्षतवासमण्डले पातयेदनेन मन्त्रेण, ॐ
वज्रोदके हूं । ॐ वज्रगोमये हूं । ॐ वज्रभूमौ सुरेखे सर्वतथागताधिष्ठानाधिष्ठान्तु
स्वाहा । एतच्च पठेत् ।

दानं गोमयम्बुना च सहितं शीलं च सम्मार्जनं

क्षान्तिं क्षुद्रपिपीलिकापनयनं वीर्यं क्रियास्थापनम् ।

ध्यानं तत्क्षणमेकचित्तकरणं प्रज्ञासुरेखोज्ज्वला

एताः पारमिता षडेव लभते कृत्वा मुनेर्मण्डलम् ॥

भवति कनकवर्णः सर्वरोगैर्विमुक्तः
 सुरमनुजविशिष्टश्चन्द्रवद्दीप्तकान्तिः ।
 धनकनकसमृद्धिर्जायते राजवंशे
 सुगतवरगृहेऽस्मिन् कायकर्माणि कृत्वा ॥

ॐ सुले(रे)खे सर्वतथागताधिष्ठानाधितिष्ठन्तु स्वाहा । पुष्पैकं हस्तस्योपरि
 न्यस्य न्युब्जहस्तं कृत्वा मण्डले क्षिपेत् । ॐ चन्द्रार्कविमले स्वाहा । मण्डलं
 प्रदक्षिणीकृत्य पुष्पैकं बलिभाण्डे क्षिपेत् । ॐ वज्रसत्त्व सर्वविघ्नानुत्सादय हुँ ।
 पूर्वादिक्रमेण द्विपरिवर्तनं कृत्वा एकविंशतिपुष्पपातनं कुर्यात् मण्डले । ॐ हः
 महामध्ये मेरवे नमः । ॐ ह्रीं मध्ये मेरवे नमः । ॐ सूँ सूक्ष्ममध्ये मेरवे नमः ।
 इति मध्ये । ॐ यं पूर्वविदेहाय नमः । पू । ॐ रं जम्बूद्वीपाय नमः । द । ॐ लं
 अपरगोदानीये नमः । प । ॐ वं उत्तरकुरवे नमः । उ । ॐ या उपद्वीपाय नमः ।
 अ । ॐ रा उपद्वीपाय नमः । नै । ॐ ला उपद्वीपाय नमः । वा । ॐ वा उपद्वीपाय
 नमः । ई । तथैव । ॐ यः गजरत्नाय नमः । ॐ रः अश्वरत्नाय नमः । ॐ लः
 पुरुषरत्नाय नमः । ॐ वः स्त्रीरत्नाय नमः । ॐ या खड्गरत्नाय नमः । ॐ रा
 चक्ररत्नाय नमः । ॐ ला मणिरत्नाय नमः । ॐ वा सर्वनिधानेभ्यो नमः । ई । ॐ
 चं चन्द्राय नमः । द । ॐ सूँ सूर्याय नमः । उ । ॐ आः हुँ श्रीवज्रसत्त्वगुरवे नमः ।
 मध्ये । पञ्चोपचारपूजा । ॐ वज्रगन्धे स्वाहा । गन्धः । ॐ वज्रपुष्पे स्वाहा । पुष्पं ।
 ॐ वज्रधूपे स्वाहा । धूपं । ॐ वज्रनैवेद्ये स्वाहा । नैवेद्यं । ॐ वज्रदीपे स्वाहा ।
 दीपं । ॐ वज्रलाजाय स्वाहा । लाजां । पुष्पाक्षतसहितजलधारां मण्डले पातयेत्—

ॐ चतूरत्नमयं मेरुमष्टद्वीपोपशोभितम् ।
 नानारत्नसमाकीर्णं तद्येऽनुत्तरदायिनः ॥

गुरुभ्यो बुद्धधर्मेभ्यः संघेभ्यश्च तथैव च ।
 निर्यातयामि भावेन सम्पूर्णं रत्नमण्डलम् ॥

स्तुतिः । ॐ आः हुँ (हुँ) श्रीमद्वज्रसत्त्वसगुरुवरचरणकमलाय सम्यग्-
 ज्ञानावभासनकराय नमोऽहं नमस्तेस्तु नमो नमः । भक्त्याहं त्वां नमस्यामि
 गुरुनाथ प्रसीद मे । कृताञ्जलिना तिष्ठेत् ।

यस्य प्रसादकिरणैः स्फुरितात्मतत्त्व-

रत्नप्रभापरिकरैः प्रहतान्धकाराः ।

पश्यन्त्यनाविलदृशैः सविलासमुच्चै-

स्तस्मै नमस्कृतिरियं गुरुभास्कराय ॥

नमो बुद्धाय गुरवे नमो धर्माय तायिने ।

नमः संघाय महते त्रिभ्योऽपि सततं नमः ॥

सर्वबुद्धं नमस्यामि धर्मं च जिनभाषितम् ।

संघं च शीलसम्पन्नं रत्नत्रयं नमोऽस्तु ते ॥

रत्नत्रये मे शरणं सर्वं प्रतिदेशयाम्यहम् ।

अनुमोदे जगत्पुण्यैः बुद्धबोधौ दधे मनः ॥

आबोधौ शरणं यामि बुद्धधर्मगणोत्तमे ।

बोधिचित्तं करोम्येष स्वपरार्थप्रसिद्धये ॥

उत्पादयामि वरबोधिचित्तं निमन्त्रयाम्यहं सर्वसत्त्वान् ।

इष्टां चरिष्ये वरबोधिचर्यां बुद्धो भवेयं जगतो हिताय ॥

देशानां सर्वपापानां पुण्यानां चानुमोदनाम् ।

कृतोपवासं चरिष्यामि आर्याष्टाङ्गमुपोषधम् ॥

मया बालेन मूढेन यत्किञ्चित्पापमागतम् ।

प्रकृत्यावद्यसावद्यप्रज्ञप्त्यावद्यमेव च ॥

तदत्ययं देशयाम्येष नाथानामग्रतः स्थितः ।

कृताञ्जलिर्दुःखभीतः प्रणिपत्य पुनः पुनः ॥

अत्ययमत्ययं तेन प्रतिगृह्णन्तु नायकाः ।

न भद्रकमिदं नाथ न कर्तव्यं पुनर्मया ॥

यथा ते तथागता आर्यार्हन्तः सम्यक्संबुद्धा बुद्धज्ञानेन बुद्धचक्षुषा जानन्ति पश्यन्ति यत् कुशलमूलं यज्जातिकं यन्निकायं यादृशं यत्स्वभावं यल्लक्षणं

यथाधर्मतया संविद्यते । तत्कुशलमूलं नित्यमनुत्तरायां सम्यक्संबोधौ परिणामितं
तथाहं परिणामयामि ।

तथा ममानेन समानकालं लोकस्य दुःखं च सुखोदयं च ।

हर्तुं च कर्तुं च सदास्तु शक्तिस्तमःप्रकाशं च यथैव भानोः ॥

दृष्टः श्रुतोऽनुस्मृतिमागतो वा पृथक्कथायोगमुपागतो वा ।

सर्वप्रकारं जगतो हिताय कुर्यामजस्रं सुखसंहिताय ॥ इति ॥

अत्रावसरे जापयोगं कुर्यात् । तदावसानेऽमृतकुण्डलिवलिभाण्डे
शङ्खोदकचुलुकं दद्यादनेन ॐ ह्रीं आचमनं [प्रोक्षणं] प्रतिच्छ स्वाहा । भावना ।
ततो यंकारेण वायुमण्डलं रंकारेणाग्निमण्डलं तदुपरि त्रिमुण्डकृतचूडिकोपरि
सितपद्मभाजनं तत्र भक्तादिपरिपूरितं तत्रोपरि ब्रूँ आँ जिँ खँ हुँ लां मां पां तां
वंकारजातः पञ्चामृतपञ्चप्रदीपरूपं निष्पाद्य ततो गरुडमुद्रां दर्शयेत् । फ्रें ३ । पुनः
शङ्खोदकचुलुकं दद्यादनेन—ॐ इन्द्रादिलोकपालेभ्यः पाद्याचमनं [नार्घं] प्रोक्षणं
प्रतिच्छ स्वाहा । जः हुँ वँ होरिति मुद्रां प्रदर्श्य इन्द्रादिदशदिक्पाललोकपालमुद्रां
च प्रदर्श्य पूर्वादिक्रमेण बलिभाण्डे पुष्पं पातयेदेभिर्मन्त्रैः । ॐ इन्द्राय स्वाहा । ॐ
यमाय स्वाहा । ॐ वरुणाय स्वाहा । ॐ कुबेराय स्वाहा । ॐ अग्नये स्वाहा ।
ॐ नैऋत्ये स्वाहा । ॐ वायवे स्वाहा । ॐ ईशानाय स्वाहा । ॐ ऊर्ध्वं ब्रह्मणे
स्वाहा । ॐ अधः पृथिवीभ्यः स्वाहा । ॐ सूर्याय ग्रहाधिपतये स्वाहा । ॐ
चन्द्रादि(य)नक्षत्राधिपतये स्वाहा । ॐ नागेभ्यः स्वाहा । ॐ असुरेभ्यः स्वाहा ।
ॐ यक्षेभ्यः स्वाहा । ॐ सर्वदिग्विदिग्लोकपालेभ्यः स्वाहा । पञ्चोपचारपूजा
पूर्ववत् स्तुतिः ।

इन्द्रादयो महावीरा लोकपाला महर्द्धिकाः ।

कीलयन्तु दशक्रोधा विघ्नहर्ता नमोऽस्तु ते ॥

तर्पणम्—

बिभ्राणं बुद्धबिम्बं दिवसकरधर राशि या बिन्दुलेखम् ।

मैत्रीयं चारुरूपं शिरसि वरतनुं मञ्जुघोषं च गात्रम् ॥

पद्मस्थं दण्डरूपं कुलिशवरतनुं वज्रिणं भीमनादम् ।
विज्ञानं ज्ञानरूपं निहितभवभयं पञ्चमूर्तिं प्रणम्य ॥

साक्षतपुष्पजलधारां बलिभाण्डे पातयेत् ।

इन्द्रादिवज्री सह देवसंघैरिमं च गृह्णन्तु बलिं विशिष्टम् ।
अग्निर्यमो नैऋतिभूपतिश्च अपांपतिर्वायुधनाधिपश्च ॥

ईशानभूताधिपतिश्च देवा ऊर्ध्वश्च चन्द्रार्कपितामहश्च ।
देवाः समस्ता भुवि ये च नागाः धराधरा गुह्यगणैः समेताः ॥

प्रतिप्रतित्वेक निवेदयन्तु स्वकस्वकाश्चैव दिशासु भूताः ।
गृह्णन्तु तुष्टाः सगणैः समेताः स पुत्रदाराः सह भृत्यसंघैः ॥

हृष्टाः प्रसन्नाः स्वगन्धमाल्यं पुष्पं बलिर्धूपविलेपनं च ।
गृह्णन्तु भुञ्जन्तु पिबन्तु चेदं इदं च कर्म सफलं भवेन्मे ॥

हुँ हुँ फट् फट् स्वाहा पुनस्तथैव च । ॐ नमो रत्नत्रयाय ॐ
चण्डवज्रपाणये महाक्रोधाय दंष्ट्रोत्कटभैरवाय असिमुशलपाशगृहीतहस्ताय । ॐ
अमृतकुण्डलि ख ख खाहि २ तिष्ठ २ बन्ध २ हन २ दह २ पच २ गर्जय २ तर्जय
२ विस्फोटय २ महागणपतये जीवितान्तकराय हुँ हुँ फट् २ स्वाहा । तत्र पुष्पादि
पूजा । तद्विधिं देवतापूजायां दर्शयेद्दीपान्ते लाजाभिरेतद्गाथया पूजयेत् ।

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुस्तेषां तथागतो ह्यवदत् ।

तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः ॥

पुष्पाक्षतजलैः पूजयेदनेन । ॐ अकारो मुखः सर्वधर्माणामाद्यनुत्पन्नत्वात् ।
ॐ आः हुँ (हुँ) फट् स्वाहा । दक्षिणा । ॐ मञ्जुश्रिये कुमारभूताय बोधिसत्त्वाय
महासत्त्वाय महाकारुणिकाय तण्डुलदक्षिणा संप्रदो(तो)षयाम्यहम् । साक्षताञ्ज-
लिना तिष्ठेत् । ॐ वज्रसत्त्वसमयमनुपालय वज्रसत्त्वत्वेनोपतिष्ठ दृढो मे भव
सुतोष्यो मे भव सुपोष्यो मे भव अनुरक्तो मे भव सर्वसिद्धिं मे प्रयच्छ सर्वकर्मसु च
मे चित्तश्रियं कुरु हुँ ह ह ह ह हो भगवन् सर्वतथागत वज्रं मा मे मुञ्च वज्रीभव
महासमयसत्त्व आः । इति गुरुमण्डलक्रिया ।

ततो देवतापूजार्थं देवताया शिरःप्रदेशे पुष्पमारोप्य एतद्भावनावाक्यं पठेत् । ॐ स्वभावशुद्धाः सर्वधर्माः स्वभावशुद्धोऽहम् । ॐ शून्यताज्ञानवज्रस्व-
भावात्मकोऽहम् । धूपवाक्यम् । ॐ भगवन् श्री अमुकवज्रविद्याराज नमोऽस्तु ते ।

कर्तुमिच्छामि ते नाथ मण्डलं करुणात्मक ।
शिष्याणामनुकम्पाय युष्माकं पूजनाय च ॥
तन्मे भक्तस्य भगवन् प्रसादं कर्तुमर्हसि ।
समन्वाहरन्तु मां बुद्धा जगच्चक्रक्रियार्थदाः ॥
फलस्था बोधिसत्त्वाश्च या चान्या मन्त्रदेवताः ।
देवता लोकपालाश्च भूताः संबोधिसाधिताः ॥
शासनाभिरताः सत्त्वा ये केचिद्वज्रचक्षुषः ।
अनुकम्पामुपादाय सशिष्यस्य च तन्मम ॥

अमुकदेवतानामाचार्यम् अर्चयिष्यामि । तत्र वज्रधूपं निर्यातयामि तत्र वज्रधूपं प्रतिच्छ स्वाहा । ततः साक्षात् पुष्पाञ्जलिं धृत्वैतदध्येषणावाक्यं पठेत्—

अद्य मे सफलं जन्म सफलं जीवितं च मे ।
समयं सर्वदेवानां भावितोऽहं न संशयः ॥
अवैवर्ती भविष्यामि बोधिचित्तैकचेतसा ।
तथागतकुलोत्पत्तिर्ममाद्य स्यान्न संशयः ॥
अग्रे मे दिवसो ह्यद्य यज्ञो मेऽद्य ह्यनुत्तरः ।
सन्निपातो भवो ह्यद्य सर्वबुद्धनिमन्त्रणात् ॥

ॐ कुसुमाञ्जलिनाथ होरिति मन्त्रं पठन् देवतासन्निधौ प्रकिरेत् ।

तदनु स्नानविधिः ॥ तत्रादौ सुवर्णादिभाजने शुभ्रस्वच्छसुनिर्मलकांस्य-
दर्पणं धृत्वा तत्र प्रणवमेकं सुवर्णशलाकया विलिख्य तस्मिन्नेव जलधारां
पातयेदनया गाथया—

ॐ यन्मङ्गलं सकलसत्त्वहृदि स्थितस्य
सर्वात्मकस्य वरधर्मकुलाधिपस्य ।
निःशेषदोषरहितस्य महासुखस्य
तन्मङ्गलं भवतु ते परमाभिषेकः ॥

पुनः पञ्चामृतैः स्नापयेत् । ॐ सर्वतथागत बुँ आँ जिँ खँ हुँ । ततः
प्रतिबिम्बं दर्शयेदनेन ।

प्रतिबिम्बसमा धर्मा अच्छा शुद्धा ह्यनाविलाः ।
अग्राह्या अनुलिप्याश्च हेतुकर्मसमुद्भवाः ॥

स्नानोदकमात्मनः शिरप्रदेशेऽभिषेचयेत् । ॐ सर्वतथागताभिषेकं समाश्रिये
हुँ । इति स्नानकर्मान्ते जलधारया मण्डं कारयेद्देवतासमीपे । ॐ वज्रभूमौ सुरेखे
सर्वतथागताधिष्ठानाधितिष्ठन्तु स्वाहा । ॐ वज्रसुवर्णजलधारे स्वाहा । सिन्दूरेणा-
भूषयेत् ।

इदं ते परमं गन्धं पवित्रं घ्राणतत्परम् ।
ददामि परमं भक्त्या प्रतिगृह्य यथासुखम् ।

ॐ वज्रगन्धे स्वाहा । ॐ वज्रतिलकभूषणे स्वाहा । यज्ञोपवीतम् । ॐ
वज्रवस्त्रालंकारपूजामेघसमुद्रस्फुरणयज्ञोपवीत वज्रबोध्यङ्ग दृढकवच वज्रवस्त्रं
स्वाहा । ततो देवतामूलमन्त्रेणाष्टोत्तरशतवारं पुष्पमभिमन्त्र्य (देवताया शिरसि)
तत्पुष्पं देवताभ्यः समर्पयेत् ।

स्वस्ति वः कुरुतां बुद्धाः स्वस्ति देवाः सशत्रुकाः ।
स्वस्ति सर्वाणि भूतानि सर्वकालं दिशन्तु वः ॥

बुद्धपुण्यानुभावेन देवतानां मतेन च ।
यो योऽर्थः समभिप्रेतः सर्वोर्थोऽद्य समृद्ध्यताम् ॥

स्वस्ति वो द्विपदे भोन्तु स्वस्ति वोऽस्तु चतुष्पदे ।
स्वस्ति वो व्रजतां मार्गे स्वस्ति प्रत्यागतेषु च ॥

स्वस्ति रात्रौ स्वस्ति दिवा स्वस्ति मध्ये दिने स्थिते ।
सर्वत्र स्वस्ति वो भोन्तु मा चैषां पापमागमत् ॥

सर्वे सत्त्वाः सर्वे प्राणाः सर्वे भूताश्च केवलाः ।
सर्वे वै सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ॥
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित्पापमागमत् ।

यानीह भूतानि समागतानि, स्थितानि भूमावथवान्तरिक्षे ।
कुर्वन्तु मैत्रीं सततं प्रजासु, दिवा च रात्रौ च चरन्तु धर्मम् ॥

ॐ वज्रपुष्पे स्वाहा । नैवेद्यसमर्पणम् । ॐ वज्रनैवेद्य स्वाहा ।

ॐ वज्रसमयाचारं खाद्यभोज्यादिकं प्रभो ।
वर्णगन्धरसोपेतं प्रतिगृह्ण यथासुखम् ॥

अथ तर्पणम्—

ॐ नमो भगवते वीरवीरेशाय हुँ फट् ।
ॐ नमो महाकल्पाग्निसन्निभाय हुँ फट् ।
ॐ नमो जटामकुटोत्कटाय हुँ हुँ फट् ।
ॐ नमो द्रंष्टाकरालोग्रभीषणमुखाय हुँ हुँ फट् ।
ॐ नमः सहस्रभुजप्रभास्वराय हुँ हुँ फट् ।
ॐ नमः परशुपाशत्रिशूलखट्वाङ्गधारिणे हुँ हुँ फट् ।
ॐ नमो व्याघ्रचर्माम्बरधराय हुँ हुँ फट् ।
ॐ नमो महाधूम्रान्धकारवपुषे हुँ हुँ फट् स्वाहा ।
गोदुग्धसमर्पणम् ।
ॐ सर्वतथागत चिन्तामृतधारे स्वाहा । दीपार्पणम् ।

नेत्राभिरामा बहुरत्नकोषा नराधिपैरर्चितपादपद्मा ।
ज्ञानप्रदीपाहतमोहजाला ये दीपमालार्चयन्ति तत्र ॥

ॐ वज्रदीपे ह्रीं स्वाहा । ततो मूलमन्त्रेणाष्टोत्तरशतवारमन्त्रितलाजाभिर्ये
धर्मेति गाथां पठित्वा देवतां प्रकिरेत् । अकारमुखेत्यादिना बलिं दत्त्वा ।
मञ्जुश्रियेत्यादिना दक्षिणां च समर्प्य साक्षताञ्जलिना शताक्षरधारणीं पठेत् ।

ततोऽक्षतार्पणार्थं जलेन मण्डलं कृत्वा तत्र दशपुष्पाणि पातयेदेभिर्मन्त्रैः । ॐ
पीठाय स्वाहा । ॐ उपपीठाय स्वाहा । ॐ क्षेत्राय स्वाहा । ॐ उपक्षेत्राय
स्वाहा । ॐ छन्दाय स्वाहा । ॐ उपछन्दाय स्वाहा । ॐ मेलापकाय स्वाहा ।
ॐ उपमेलापकाय स्वाहा । ॐ श्मशानाय स्वाहा । ॐ उपश्मशानाय स्वाहा ।
तत्र पञ्चोपचारपूजां कृत्वा बलिं दद्यात् ॥ ॐ पीठोपपीठक्षेत्रोपक्षेत्रछन्दोपछन्द-
मेलापकोपमेलापकश्मशानोपश्मशानाधिवासिनो वीरवीरेश्वरीः सर्वान् भक्तितः
प्रणमाम्यहम् । ततोऽक्षतार्पणसमये वक्ष्यमाणस्तोत्राणि पठेत् । ॐ आः हुँ (हूँ)
श्रीमद्वज्रसत्त्वेत्यादिना ।

सर्वज्ञज्ञानसंदोहं जगदर्थप्रसाधकम् ।
चिन्तामणिरिवोद्भूतं श्रीसंवर नमोस्तु ते ॥
व्याप्तं विश्वमहाज्ञानं सर्वात्मनि सदा स्थितम् ।
कृपाक्रोधं महारौद्रं श्रीसंवर नमोस्तु ते ॥

इत्यादि पठित्वा क्षमार्पणं कुर्यादिति । तत्र क्षमापनम् । शताक्षर-
मन्त्रोच्चारणानन्तरं दानपतीत्यादिना मनोभीप्सितसंकल्पवाक्यानन्तरमेवं क्षमार्पणं
कुर्यात् ।

अप्राप्तेन च प्रज्ञानमशक्तं च मया विभो ।
यन्न्यूनमधिकं नाथ तत्सर्वं क्षन्तुमर्हसि ॥
क्षन्तुमर्हन्तु संबुद्धा देवता तद्व्रताश्च ये ।
ब्रह्माद्या लोकपालाश्च याश्च भूतविधिक्रियाः ॥
शान्तिं स्वस्तिं च पुष्टिं च भक्तस्यानुग्रहाय च ।
यत्कृतं दुष्कृतं किञ्चित् मया मूढधिया पुनः ॥
क्षन्तव्यं च त्वया नाथ यदि त्रातासि देहिनाम् ।
कुरु दानपतेः शान्तिं स्वस्तिं पुष्टिं च सर्वदा ॥
यत्कृतं कायजं पापं वाग्जं पापं च यत्कृतम् ।
यत्कृतं चित्तजं पापं तत्सर्वं देशयाम्यहम् ॥

नमोस्तु ते बुद्ध अनन्तगोचरे नमोस्तु ते सत्यप्रकाशक मुने ।

सत्यप्रतिष्ठाय प्रजाय मे च सर्वे च कार्याः सफला भवन्तु ॥

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भावनावाक्यहीनकम् । प्रसीद परमेश्वर परमेश्वरि
रक्ष 2 मां कोटि अपराधं क्षमस्व । इति क्षमाप्य आवाहितदेवान् विसर्जयेत् ।

कृतो वः सर्वसत्त्वार्थसिद्धिं दत्त्वा यथानुगाः ।

गच्छध्वं बुद्धविषये पुनरागमनाय च ॥

स्वस्वस्थाने गच्छध्वम् । ॐ आः हुँ (हूँ) वज्रमण्डलं मूरिति विसर्जना ।

इति नित्यकर्मपूजाविधिः समाप्तः ।

सर्वसत्त्वार्थसिद्धिर्भवतु ॥

ABSTRACT OF ARTICLES

Dharmadhātupūjāvidhi-stotram and Śoḍaśayoginī-stotram

1-6

The hymnal compositions *Dharmadhātupūjāvidhi* and *Śoḍaśayoginī-stotra* are, respectively derived from the *Dhāraṇī-saṃgraha* (3-589), folio no. 187, Sr. no. 168 and folio no. 256, Sr. no. 265. In the first, in four folios sacramental rite is described with the injunction to chant the stotra.

Niṣprapañcācaryā and Atyanta Niṣprapañca-caryā

7-16

We have been publishing short Hindi translation of Āryadeva's *Caryāmelāpakapradīpa* in the previous issues of our journal. Here, bringing out brief translation of its 10th and 11th chapters titled *niṣprapañca-caryā* and *atyanta niṣprapañca-caryā*.

Collection of Lost Bauddha Vacana's

17-26

We are eliciting the utterances of Buddha taken from the commentarial text *Muktāvalī*, commentary on *Hevajratantra* authored by Ratnākaraśānti and published in Bibliotheca Indo-Tibetica Sr. no. 48 (Published 2001). Simultaneously also, we publish here *vacana's* from commentary of Amṛtavajra on *Dohakoṣa* of Kṛṣṇapāda.

Glossary of Buddhist Technical Terms

27-66

A collection has been made of technical terms occurring in *Hevajrapañjikā-muktāvalī* of Mahāpaṇḍita Ācārya Ratnākaraśānti. The text from which collection has been made was edited by Prof. R. S. Tripathi and Dr T. S. Negi and published as no. 48 of the Bibliotheca Indo-Tibetica Series by the Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath.

Mahāyāna Buddhist Divinities : Their Manifestation and for which they are Manifested

67-72

Buddhists do not believe in god, rather they negate god. In *Theravāda* discipline what exists is also temporal. The adherence of the *mahāyāna* takes moment to be also ephemeral. The question arises : For what then do they have their *maṇḍalas*, images, murals and *thanḱa* s in which they conceive multi-gods and goddesses. How have they been conceptualised?

The author believes their existence to be supportive in *sādhana*; for *sādhana* (practice) requires support and for this support is created or obtained and the support is removed after the practice. They are not eternal, permanent elements. In its doctrinal approach Buddhist practices are not different from principles of emptiness (*śūnyatā*) and are without inherent nature.

Guhyasamāja : A Survey

73-100

In this survey the main orders of the Buddhist esoterism based on the *Guhyasamājatantra* of the order of *Pitṛtantra* are discussed. They define the nature, the inner meaning, the nature of *sādhana*, and classified details of the practice. The present survey glimpses into the rise of *Pitṛtantra*, tradition of *āmnāya* (hegiology), *vajradeha*, *nāḁī*, *cakra*, *vāyu*, *tilaka*, *maṇḁala*, *mudrā* and *kramadvaya*. The survey is complete in its brevity.

*Constituent Elements of Bodhi with Visualization of Titular
Deties in Accordance with Mantranaya System*

101-112

This perceptive essay elicits the meaning of the 37 constituent elements of enlightenment (*Bodhipākṣikadharmas*). Each element is

concisely discussed indicating their assimilation in the practices of the tantric visualisation along with the 37 *vīreśvarīs* of *Heruka maṇḍala*.

Outline of the Esoteric Literature

113-122

We have brought out the translation of Ācārya Bu-ston's *rGyud-sde-spyi-hi rnam per gzag-pa* (A general and brief composition of key to deliverance of the revealed texts of gem-door). In the same continuation we present "order of Tantras" as translated into Hindi.

Source Material of Rare Texts

123-143

We have noticed 71 important manuscripts of the *avadāna* texts in the 32nd issue of the *Dhīh*. In this issue we are informing brief details of 43 mss. belonging to *avadāna* category.

Sitātapatrā

145-154

Sitātapatrā is well known goddess of the *mahāyāna* pantheon. There are *sūtras* and *dhāraṇī mantras* which are recited to drive away the evil, comprising the goblin, constellations, *yakṣas* and *rākṣasa* who produce their mal-influences on human beings, animals and birds and all other creatures. The goddess is placated to end the effect of bad dreams and different kinds of diseases.

The present small text *Āryasarvatathāgatoṣṇīṣasitātapatrā nāma aparājitā pratyaṅgirā Mahārājñī* has been brought from the National Archives, Kathmandu in the form of *Dhāraṇī saṃgraha* (3-589), folios 137-143.

Nityakarmapūjāvidhiḥ

155-166

There are several gods and goddesses which are worshipped in accordance with specific rituals. Their visualizations of divine are a salient

feature in Buddhist esoterism. Naturally, their order of worship and practices are not the same.

The present work is a sort of manual for daily worship rites as practiced by tantrics of Buddhist pentheon. These rites comprise prayer and worship rites in seven ways of *anuttara* method. This kind of everyday worship is compulsory for the tantra practitioner. The present small text is brought from Institute for Advance Studies of World Religions, New York, no. MBB-1973-196.

ཙུམ་གྱི་དོ་སྤྱོད་མདོར་བསྟུན།

བསྟོད་པ་ཁག་གཉིས།

༡ - ༩

ཆོས་དབྱིངས་མཆོད་པའི་ཆོ་གའི་བསྟོད་པ་དང་། རྣལ་འབྱོར་མ་བཅུ་དྲུག་གི་བསྟོད་པ་ནི་དེ་ལྟ་
དཔར་སྐྱུན་མ་ཟིན་པའི་གཟུངས་སྟོགས་བདུས་ཨང་ ༢-༡༥༧ ལྷེ་བ་གྲངས་ ༡༥༧ དང་ལྷེ་བ་གྲངས་
༢༡༤ རྣམ་སྒྲུངས་པ་ཡིན། ཆོས་དབྱིངས་མཆོད་པའི་ཆོ་གའི་བསྟོད་པའི་སྟོན་དུ་ལྷེ་བ་མ་བཞིར་
མཆོད་པའི་ཆོ་ག་བསྟན་པ་དང་དེའི་རྗེས་སུ་བསྟོད་པ་འདི་བསྟུག་པར་བྱ་བ་བསྟན།

སྟོས་མེད་དང་ཤིན་དུ་སྟོས་མེད་ཀྱི་སྟོད་པ།

༧ - ༡༩

རྗེ་འདོན་ཐེངས་ལྔ་མ་རྣམས་སུ་སྟོབ་དཔོན་འཕགས་པ་ལྷས་མཛད་པའི་སྟོད་པ་བསྟུས་པའི་སྟོན་
མའི་ལེའུ་དགུ་པ་བར་གྱི་བསྟུས་དོན་རྣམས་རིམ་པ་བཞིན་ཉིན་སྐད་དུ་ཕབ་བསྟུར་བྱས་ཡོད།
འདོན་ཐེངས་འདིར་གཞུང་འདིའི་ལེའུ་བཅུ་པ་སྟོས་མེད་དང་བཅུ་གཅིག་པ་ཤིན་དུ་སྟོས་མེད་ཀྱི་སྟོད་
པ་སྟེ་ལེའུ་ཐ་མ་གཉིས་ཀྱི་བསྟུས་དོན་ཉིན་སྐད་དུ་ཕབ་བསྟུར་ཞུས་ཡོད།

ནང་པའི་གསུང་རབ་ཉམས་པ་ཁག་གི་སྟོགས་བདུས།

༡༧ - ༢༩

དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་སྟོབ་དཔོན་ནག་པོ་ཞབས་ཀྱི་དོ་ཉ་མཛད་ཀྱི་འགྲེལ་པ་སྟོབ་དཔོན་
འཆི་མེད་དོ་རྗེས་མཛད་པ་རྗེ་དུས་དེབ་སོ་གཉིས་པའི་ནང་དཔར་སྐྱུན་ཞུས་པ་དང་། སྟོབ་དཔོན་
རིན་ཆེན་འབྲུང་གནས་ཞི་བས་མཛད་པའི་ “དཔལ་དགེས་པ་དོ་རྗེའི་དཀའ་འགྲེལ་ལུ་ཏིག་ཐེང་བ་”
ཞེས་བྱ་བ་འཕགས་བོད་བོད་ཐེང་ཞེ་བརྒྱད་པ་མཐོ་སྟོབ་འདི་ནས་སྤྱི་ལོ་ ༢༠༠༢ ལོར་དཔར་སྐྱུན་ཞུས་
པའི་གཞུང་དེ་གཉིས་སུ་གསལ་བའི་ལུང་འདྲེན་ཁག་སྟོགས་བདུས་བྱས་ཏེ་དཔར་སྐྱུན་ཞུས་ཡོད།

ནང་པའི་སྤྱན་མིན་ཆོས་ཆོག་ཁག་གི་དགོངས་དོན།

༢༧ - ༤༩

འདོན་ཐངས་འདིར་སློབ་དཔོན་ཆེན་པོ་རིན་ཆེན་འབྲུང་གནས་ཞི་བས་མཛད་པའི་“དཔལ་དགྲུས་པ་
 རྡོ་རྗེའི་དཀར་འབྲེལ་མུ་ཏིག་སྤེང་བ་”ཞེས་བྲུ་བའི་ནང་གསལ་བའི་སྤྱན་མིན་ཆོས་ཆོག་ཁག་གི་
 སྤྱོད་པ་བརྟུས་བྲུས་ཡོད། གཞུང་དེ་ནི་སློབ་དཔོན་རྣམས་མཁར་རྒྱུ་ལྡན་དང་ཏོག་ཏུ་རྒྱ་ཁྲི་སེན་ནེ་གི་
 གཉིས་ཀྱིས་ཞུས་བསྐྱེད་པ་གནང་ཞིང་མཐོ་སློབ་འདིས་ནས་འཕགས་པོད་པོད་སྤེང་ཞེ་བརྒྱད་པ་
 དཔར་བསྐྱེད་ཞུས་ཡོད།

ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་ལྷ་འི་འཁོར་གྱི་རང་བཞིན་དང་དགོས་པ།

༤༧ - ༧༢

ནང་པས་དབང་ཕྱག་འཛིག་རྟེན་གྱི་བྱེད་པོར་མི་འདོད་ཅིང་དེ་ལ་དགག་པ་བྱེད། ཉན་ཐོས་ཀྱི་གྲུབ་
 མཐའ་སྤྱོད་པས་དངོས་པོ་སྤྲད་ཅིག་མར་འདོད་ཀྱང་བདེན་གྲུབ་ཏུ་འཛིན། ཐེག་ཆེན་གྱི་གྲུབ་མཐའ་སྤྱོད་
 བས་ཆོས་ཐམས་ཅད་རང་བཞིན་གྱིས་མ་གྲུབ་པར་བཞེད། དེ་ལྷ་ནའང་ལྷ་འི་དགྱིལ་འཁོར་དང་།
 འབྲས་སྤྱོད་ལྷེ་བ་བྱིས། ཐང་ཀ་ལ་སོགས་པའི་ནང་ལྷ་དང་ལྷ་མོའི་རང་གཟུགས་མཐའ་ཡས་པ་བསྟན་
 པའི་དགོས་པ་གང་ཡིན། དེ་དག་གང་ནས་བྱུང་བ་བཅས་ལ་རྩོམ་འབྲི་བའི་འདོད་ཚུལ་ལ། དེ་དག་
 ཐམས་ཅད་སྤྲོམ་སྤྱོད་ཁོ་ནའི་ཆེད་དུ་ཐ་སྟད་དུ་བཏགས་པ་དང་། སྤྱོད་པའི་དམིགས་རྟེན་གང་རུང་
 ཞིག་མེད་པར་མི་བྲིད་པས། སྤྱོད་པའི་ཆེད་དེ་དག་བསྐྱེད་པར་བྱེད་ཅིང་མཐར་དེ་དག་རྫོགས་པར་
 བྱེད་དོ། །དེ་དག་ཏིག་པ་དང་། ཐེར་བྱག་ཏུ་ཡོད་པའི་རང་བཞིན་ཅན་ནི་མ་ཡིན། དེ་ལྷ་རྣམས་ནང་པའི་
 སྤྲོམ་སྤྱོད་དང་རང་བཞིན་གྱིས་སྤོང་བ་གཉིས་ལ་པན་རྩལ་འགལ་བ་མེད་པའི་ཚུལ་བསྟན།

གསང་བ་འདུས་པའི་རྒྱུད་ལ་དབྱེད་པ།

༧༢ - ༧༠༠

བྲིས་རྩོམ་འདིའི་ནང་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་ཀྱི་དབྱེ་བའི་གཙོ་བོ་པ་རྒྱུད་དང་འབྲེལ་བའི་གསང་
 བ་འདུས་པའི་རྒྱུད་གཞུང་ལ་དབྱེད་པ་བྲུས་པ་དེའི་ནང་ནང་པའི་རྒྱུད་གཞུང་རྣམས་ཀྱི་ངོ་བོ། དེ་ཁོ་

ན་ཉིད་ཀྱི་ལྷ་བ། སྒྲོམ་གྱི་རང་བཞིན། སྡེ་ཚན་དུ་སྡེ་ཚུལ་སོགས་ལ་དབྱུང་བ་བྱས་སྡེ་མ་རྒྱུད་ཀྱི་
མངོན་མཐོ། མན་ངག་གི་བརྒྱུད་རིམ། རྩི་རྩི་ལུས། འཁོར་ལོ། ཚ་རྒྱུད། ཐེག་ལོ། དཀྱིལ་འཁོར།
ཐུག་ཀྱི་དང་རིམ་གཉིས་ཀྱི་སྒྲོར་ལ་དབྱུང་བ་རྒྱས་པར་བྱས་ཡོད།

ཐུགས་ལུ་ལྷ་རྒྱུད་སྡེ་སོ་བདུན་གྱི་ལྷ་དང་ནལ་འབྱོར་གྱི་སྒྲོར། १०१ - ११२

བྱང་ཆུབ་སྤྱུགས་ཀྱི་ཆོས་སུ་མ་ཅུ་སོ་བདུན་སོ་རྣམས་ཉེ་རུ་ཀའི་དཀྱིལ་འཁོར་གྱི་དཔའ་བོའི་དབང་
ཐུག་མ་སོ་བདུན་དང་སྒྱར་ནས་རྒྱུད་དུ་རྩི་ལྷ་རྒྱུད་པའི་ཆུལ་ངེས་པར་བསྐྱར་པའི་སྒྲོ་ནས་བྱང་ཆུབ་
སྤྱུགས་ཀྱི་ཆོས་ཀྱི་དགོངས་དོན་དང་ངོ་སྤྲོད་བཅས་བྲིས་ཚུལ་འདིའི་ནང་བསྐྱར་ཡོད།

བྱ་སྒྲོན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྐྱས་པ། ११३ - १२३

རྒྱུ་འདོན་ཐེངས་སུ་མ་རྣམས་སུ་བྱ་སྒྲོན་རིན་པོ་ཆེས་མཛད་པའི་“རྒྱུད་སྡེ་སྤྱིའི་རྣམ་གཞག་བསྐྱས་པ་
རྒྱུད་སྡེ་རིན་པོ་ཆེའི་གཏེར་སྒྲོ་འབྲེད་པའི་ལྷེ་མིག་”ཅེས་པའི་གཞུང་འདི་ཉིད་ཀྱི་དུམ་བུ་ཞིག་ཉིན་
སྐད་ཐོག་ཕབ་བསྐྱར་བྱས་ཡོད། ད་ལན་འདོན་ཐེངས་འདིར་དེའི་འཕྲོས་རྒྱུན་འཐུས་ནས་རྒྱུད་ཀྱི་
དབྲེ་བ་དང་འབྲེལ་བའི་སྐབས་ཉིན་སྐད་ཐོག་ཕབ་བསྐྱར་བྱས་ཡོད།

ཆེས་དགོན་གསུང་རབ་ཁག་གི་ཚ་བའི་མ་དཔེ། १२३ - १८३

རྒྱུ་དུས་དེབ་འདོན་ཐེངས་སུ་མ་ཅུ་སོ་གཉིས་པའི་ནང་འགོ་བརྩམས་འདིའི་འོག་གལ་ཆེའི་རྟོག་བརྩམས་
ཀྱི་གསུང་རབ་ལག་བྲིས་མ་བདུན་ཅུ་དོན་གཅིག་གི་སྒྲོར་བསྐྱར་ནས། ད་ལན་འདོན་ཐེངས་འདིའི་ནང་
དེའི་འཕྲོས་ཀྱི་རྟོག་གཞུང་བཞི་བཅུ་ཞེ་གསུམ་གྱི་ངོ་སྤྲོད་ཞུས་ཡོད།

གདུགས་དཀར།

༡༧༣ - ༡༧༤

གདུགས་དཀར་མོ་ནི་ནང་པ་ཐེག་པ་ཆེན་པོའི་གཞུང་ནང་གལ་གནད་ཆེ་བའི་ལྷ་མོ་ཞིག་ཡིན།
 གདུགས་དཀར་གྱི་མདོ་དང་གཟུངས་བསྐྱབས་པས་འབྱུང་བོ་དང་། གཟུངས་གཞི་སྤྱིན་དང་བདུང་
 ལ་སོགས་པའི་འཛིགས་པ་སྣ་ཚོགས་དང་། མི་ལམ་ངན་པ་དང་ནད་སྣ་ཚོགས་པ་རྣམས་བསྐྱོག་པར་
 གྱེད་དོ། །གཞུང་ཆུང་འདི་ནི་“འཕགས་པ་དེ་བཞིན་གཤེགས་པ་ཐམས་ཅད་ཀྱི་གཙུག་ཏོར་ནས་བྱུང་
 བ་གདུགས་དཀར་པོ་ཅན་ཞེས་བྱ་བ་གཞན་གྱིས་མི་སྦྱབ་མ་བྱིར་མི་བསྐྱོག་པའི་རིག་སྒྲགས་ཀྱི་རྒྱལ་
 མོ་”ཞེས་བྱ་བའི་ནང་ནས་ཐོབ། འདི་ནི་བལ་ཡུལ་རྒྱལ་སྤྱིའི་དཔེ་མཛོད་ཁང་དུ་ཉར་འཛགས་བྱས་
 པའི་གཟུངས་སྤྱོགས་བཏུས་ཨང་ ༢-༣༤ རྩེབ་བྱངས་ ༡༣༢-༡༣༣ ལས་སྤངས་ཏེ་དཔར་བསྐྱར་
 ཞུས་པ་ཡིན།

རྒྱན་མཁའི་ཆོས་སྤྱོད་ཀྱི་ཆོ་གའི་རིམ་པ།

༡༧༥ - ༡༧༦

ནང་པའི་རྒྱན་གཞུང་རྣམས་སུ་ལྷ་དང་ལྷ་མོ་སྣ་ཚོགས་ཡོད་པ་དེ་དག་ཐམས་ཅད་ཀྱི་མཆོད་པའི་
 རྩས་ཀྱང་ཐ་དད་པ་ཡོད། ནང་པ་སངས་རྒྱས་པའི་རྩས་འཛིན་ཞིག་ཡིན་ཕྱིན་ཆད་རྒྱན་དུ་ཁ་འདོན་
 རི་ལྷར་བྱ་སྤྱོགས་ཀྱི་སྐོར་མདོར་བསྐྱས་ཤིག་“རྒྱན་མཁའི་ཆོས་སྤྱོད་ཀྱི་ཆོ་གའི་རིམ་པ་”ཞེས་པའི་
 གཞུང་འདིར་ཐོབ། དེའི་ནང་ཐུག་འཆལ་བ་དང་མཆོད་པ་སོགས་སྤྱོད་ན་མེད་པའི་མཆོད་པ་རྣམས་
 བདུན་གྱི་རྩས་སུ་སྒྲགས་སྤྱོད་པའི་གང་ཟག་གཅིག་གིས་ཉིན་ལྷར་མཆོད་པ་རི་ལྷར་བྱ་བའི་ཆོ་ག་
 བསྐྱར། གཞུང་འདི་ནི་འཕྲུལ་ལྷ་འཛིན་གྱི་ཆོས་ལུགས་ཁག་གི་མཐོ་རིམ་སྤྱོད་གཉེར་གྱི་གཙུག་ལག་
 ཁང་ནས་སྤངས་པ་ཞིག་ཡིན།

